सिंघी जैन ग्रन्थ माला

[ग्रन्थांक ४०]

महोपाध्याय – खुशफहम् – सिद्धिचन्द्रगणि विरचित

काव्यप्रकाशखण्डन

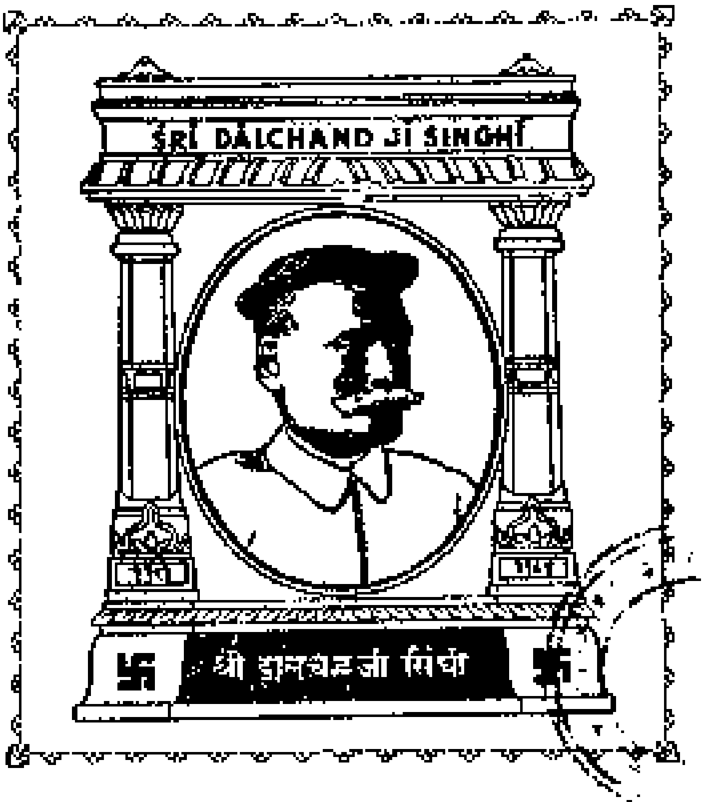

SINGHI JAIN SERIES

[NUMBER 40]

KAVYAPRAKASA - KHANDANA

(A Critique of some of the Topics of *Mammata's Kavyaprakas'a*)

By

MAHOPADHYAYA - KHUSHFAHAM

SIDDHI CHANDRA GANI

विषयानुक्रम

किञ्चित् प्रास्ताविक	2-4
PREFACE	5
ABBREVIATIONS	5
INTRODUCTION	6–20
काव्यप्रकाशखण्डन – मूल ग्रन्थ	१–१०१
विशेषनामसूचि	१०२
सूत्र – श्लोक – पद्यसूचि	१०३–१०८

किञ्चित् प्रास्ताविक

*

महोपाध्याय सि द्धि च न्द्र ग णि विरचित, का व्य प्र का श ख ण्ड न नामक प्रस्तुत ग्रन्थ **सिंघी जैन ग्रन्थमाला** के ४० वें पुष्पके रूपमें प्रकाशित हो रहा है।

संस्कृत साहित्यके अभ्यासियोंमें का श्मी र दे श निवासी महाकवि म म्म ट का बनाया हुआ का व्य प्र का श नामक, काव्यशास्त्रकी मीमांसाका प्रौढ ग्रन्थ, सुप्रसिद्ध है। संस्कृत साहित्यके प्रत्येक प्रौढ विद्यार्थीका यह एक प्रधान पाठ्य ग्रन्थ है। विक्रमकी १२ वीं शताब्दीमें, सरस्वतीके धाम स्वरूप काश्मीर देशमें, इसकी रचना हुई और थोडे ही वर्षोंमें यह ग्रन्थ, भारतके सभी प्रसिद्ध विद्याकेन्द्रोंमें, बडा आदरपात्र हो गया और सर्वत्र इसका पठन-पाठन शुरू हो गया। इस ग्रन्थकी ऐसी हृदयंगमताका अनुभव कर, इस पर भिन्न भिन्न देशोंके भिन्न भिन्न विद्वानोंने, टीका-टिप्पणादिके रूपमें छोटी-बडी व्याख्याएं बनानी शुरू कर दीं, जिनका प्रवाह बराबर आज तक चल रहा है। न जानें, आज तक कितने विद्वानोंने इस पर कितनी व्याख्याएं लिखीं होंगी, और न जाने इनमेंसे कितनी ही लुप्त भी हो गईं होंगीं।

महाराष्ट्रीय विद्वान् म. म. वामन झळकीकरने, ऐसी अनेक प्राचीन व्याख्याओंका समालोडन कर, जो एक विशद नूतन व्याख्या बनाई है उसकी प्रस्तावनामें इस ग्रन्थ पर लिखी गईं बहुतसी प्रसिद्ध प्रसिद्ध व्याख्याओंकी सूचि दी है। उसके देखनेसे इस ग्रन्थकी व्याख्यात्मिक रचनाओंकी संख्या आदिके विषयमें कुछ कल्पना हो सकती है।

महाकवि मम्मट काश्मीरदेशीय शैव संप्रदायका अनुयायी था। पर उसकी यह कृति भारतके सभी संप्रदायोंमें समान रूपसे समादृत हुई है और इससे इस रचनाकी विशिष्टता एवं विद्वत्प्रियताका भी महत्त्व समझा जा सकता है। नितान्त निवृत्तिमार्गीय जैन यतिजन, जो इस प्रकारके लौकिक वाङ्मयका प्रायः कम अध्ययन-मनन करते हैं—और जो थोडे बहुत सार्वजनीन साहित्योपासकके नाते कुछ अध्ययनादि करते भी हैं तो वे विशेषतया अपने ही पूर्वाचार्योंकी रची हुई कृतियोंका करते हैं। जैनेतर विद्वानोंकी कृतियोंका वैसा विशेष परिचय प्राप्त करनेमें उनका आकर्षण कम रहता है। पर मालूम देता है की मम्मटाचार्यका का व्य प्र का श जैन यतिजनोंमें भी बहुत समादरका पात्र बना है और इसमें भी विशेष उल्लेख योग्य घटना यह है कि इस ग्रन्थ पर उक्तरूपसे जिन अनेकानेक विद्वानोंने, आज तक जो अनेकानेक व्याख्याएं बनाईं हैं, उन सबमें पहली एवं प्रथम पंक्तिकी पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या बनानेका सम्मान एक जैन यतिजन को प्राप्त हो रहा है; जिनने वि. सं. १२४६ में **का व्य प्र का श सं के त** नामसे इसकी व्याख्या की है।[†]

[†] काव्यप्रकाशकी सबसे प्राचीन हस्तलिखित पोथी भी जो अभीतक ज्ञात हुई है वह राजस्थानके जेसलमेर स्थित जैन ज्ञानभण्डारमें सुरक्षित है। यह पुस्तिका ताडपत्र पर, वि. सं. १२१५, में गुजरातकी पुरातन राजधानी अणहिलपुरमें, चौलुक्य चक्रवर्ती राजा कुमारपालके राज्यकालमें लिखी गई थी। [देखो सिंघी जैन ग्रन्थ मालामें प्रकाशित और हमारा संपादित 'जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह'; पृ० १०८] काव्य प्रकाशकी इससे प्राचीन कोई अन्य पोथी कहीं ज्ञात नहीं है।

इनका नाम माणिक्यचन्द्र सूरि था और गुजरातकी राजधानी अणहिलपुरमें रहते हुए इनने यह व्याख्या बनाई थी। माईसोर संस्कृत ग्रन्थावलि, एवं आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि आदि प्रतिष्ठित प्रकाशन संस्थाओं द्वारा इसका प्रकाशन भी हो चुका है।

विक्रमकी १८ वीं शताब्दीके प्रथम पादमें विद्यमान महान् जैन तार्किक विद्वान् महोपाध्याय यशोविजय गणी द्वारा भी इस ग्रन्थ पर एक बहुत ही प्रौढ एवं पाण्डित्यपूर्ण विशद व्याख्या बनाई जानेका उल्लेख मिलता है। 'काव्यप्रकाशखण्डन'के नामसे प्रस्तुत रचनारूप आलोचनात्मक विवृति भी, एक ऐसे ही सुप्रसिद्ध जैन यतिके, इस ग्रन्थ पर किये गये गंभीर अध्ययन-मननके परिणामका फलस्वरूप है। इस आलोचनात्मक विवृतिके कर्ता महोपाध्याय सिद्धिचन्द्रने, जैसा कि इस कृतिमें (पृ. ३ पर) स्वयं सूचित किया है, प्रस्तुत रचनाके पूर्व ही इस ग्रन्थ पर, एक बृहट्-टीका भी बनाई है जो अद्यापि उपलब्ध नहीं हुई है। इन सब बातोंसे ज्ञात होता है कि काव्यप्रकाश ग्रन्थ जैन विद्वानोंमें भी खूब पठनीय और मननीय बना है।

महोपाध्याय सिद्धिचन्द्र गणीने प्रस्तुत रचना, एक आलोचनात्मक दृष्टिसे की है। काव्यप्रकाशमें प्रतिपादित जिन विचारोंके विषयमें, ग्रन्थकारका कुछ मतभेद रहा है, उस मतभेदको प्रकट करनेके लिये, इसकी रचना की गई है; न कि उस सर्वमान्य ग्रन्थगत सभी पदार्थोंका खण्डन इसमें अभिप्रेत है। महाकवि मम्मटने काव्यरचना विषयक जो विस्तृत विवेचन अपने विशद ग्रन्थमें किया है उसमेंसे किसी लक्षण, किसी उदाहरण, किसी प्रतिपादन एवं किसी निरसन संबन्धी उल्लेखको, सिद्धिचन्द्रने ठीक नहीं माना है और इसलिये उनने अपने मन्तव्यको व्यक्त करनेके लिये प्रस्तुत रचनाका निर्माण किया है। इसी तरह, काव्यप्रकाशके कई जूने-नये व्याख्याकारोंके भी जिन किन्ही विचारोंके साथ इनका मतभेद हुआ है, उन विचारोंका भी इनने इसमें निरसन किया है। ऐसा करनेमें ग्रन्थकारका हेतु केवल पदार्थतत्त्व-मीमांसा प्रदर्शित करनेका रहा है न कि किसी प्रकारका स्वमताग्रह या परदोषान्वेषणका भाव रहा है। केवल 'कौतुकाद्' अर्थात् कौतुकमात्रकी दृष्टिसे यह प्रयास किया गया है ऐसा उनका कथन है। अतः एव यह रचना इस दृष्टिसे विद्वज्जनोंके लिये अवश्य अवलोकनीय प्रतीत होगी।

ग्रन्थगत वस्तुका सारभूत परिचय प्रो. परिखने अपनी प्रस्तावनामें अच्छी तरह आलेखित किया है। ग्रन्थकर्ताके जीवनके विषयमें, तो उन्हींका बनाया हुआ भा नु च न्द्र च रि त नामक विशिष्ट ग्रन्थ, जो इस सिंघी जैन ग्रन्थमालाके १८ वें पुष्पके रूपमें छपा है उसमें यथेष्ट लिखा गया है। अतः जिज्ञासु जनोंको उसका अवलोकन करना योग्य होगा।

प्रस्तुत ग्रन्थका संपादन मेरे जिन विद्वान् मित्रने किया है वे प्रो. श्रीयुत रसिकलाल छो. परिख संस्कृत काव्यशास्त्रके एक बहुत ही प्रौढ विद्वान्, मर्मज्ञ विवेचक, और आदर्श अध्यापक हैं। गुजरातके इनेगिने उच्च कोटिके विद्वानोंमें इनका एक अग्रिम स्थान है। गुजरात विद्यासभा

द्वारा संचालित 'उच्च अध्ययन एवं संशोधनात्मक प्रतिष्ठान' (इन्स्टीट्यूट ऑफ हायर स्टडीज एण्ड रीसर्च) के ये अध्यक्ष और निर्माता हैं। अनेक वर्षों पूर्व ही इनने, कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यके बनाये हुए, काव्यप्रकाश सदृश ही काव्यशास्त्र विषयक सुप्रमाणभूत, काव्यानुशासन नामक विशाल ग्रन्थका सुसंपादन किया है जो विद्वानोंमें एक आदरपात्र अध्ययनकी वस्तु बना हुआ है। ये काव्यशास्त्रके विशिष्ट अभ्यासी हैं एवं गुजरातीके एक अच्छे कवि और लेखक हैं।

मेरे तो ये एक अतीव आत्मीयभूत बन्धुजन हैं; अतः इनके विषयमें विशेष कुछ कहनेमें मुझे संकोच होना स्वाभाविक है। सिंघी जैन ग्रन्थमालाके कार्यके साथ इनका प्रारंभसे ही घनिष्ठ संबन्ध रहा है। मेरे साहित्य विषयक अत्यधिक कार्यभारको कुछ हलका करनेकी दृष्टिसे, ये सदैव प्रकट-अप्रकट रूपमें, मुझे अपना स्नेहपूर्ण सहयोग देते रहते हैं। साथमें अपने प्रतिष्ठानके अन्यान्य समकक्ष विद्वान सहयोगियों द्वारा भी, मेरे कार्यमें, यथाप्रसंग, सहायभूत हो कर, मुझे अपनी [illegible] सुगम बनाते रहते हैं। मेरे साहित्यिक जीवनकी बाल्यावस्थासे ही ये बालमित्र-से बने हुए हैं, और अब जीवनकी इस शान्त सन्ध्याके समय भी, अपना वैसा ही अकृत्रिम स्नेहभाव बताते हुए, एक सुविनीत शिष्यकी तरह, मेरा हाथ पकड कर, मुझे अपने गन्तव्य स्थान पर पहुंचनेमें सहायक हो रहे हैं। मैं इनके प्रति अपना क्या कृतज्ञभाव प्रकट करूं? **'सहवीर्यं करवा वहै'** – इस महावाक्यवाली प्रार्थनाका स्मरण करते हुए मैं विराम लेना चाहता हूं।

शरत्पूर्णिमा, वि. सं. २०१०
२३, अक्टूबर, १९५३

मुनि जिनविजय

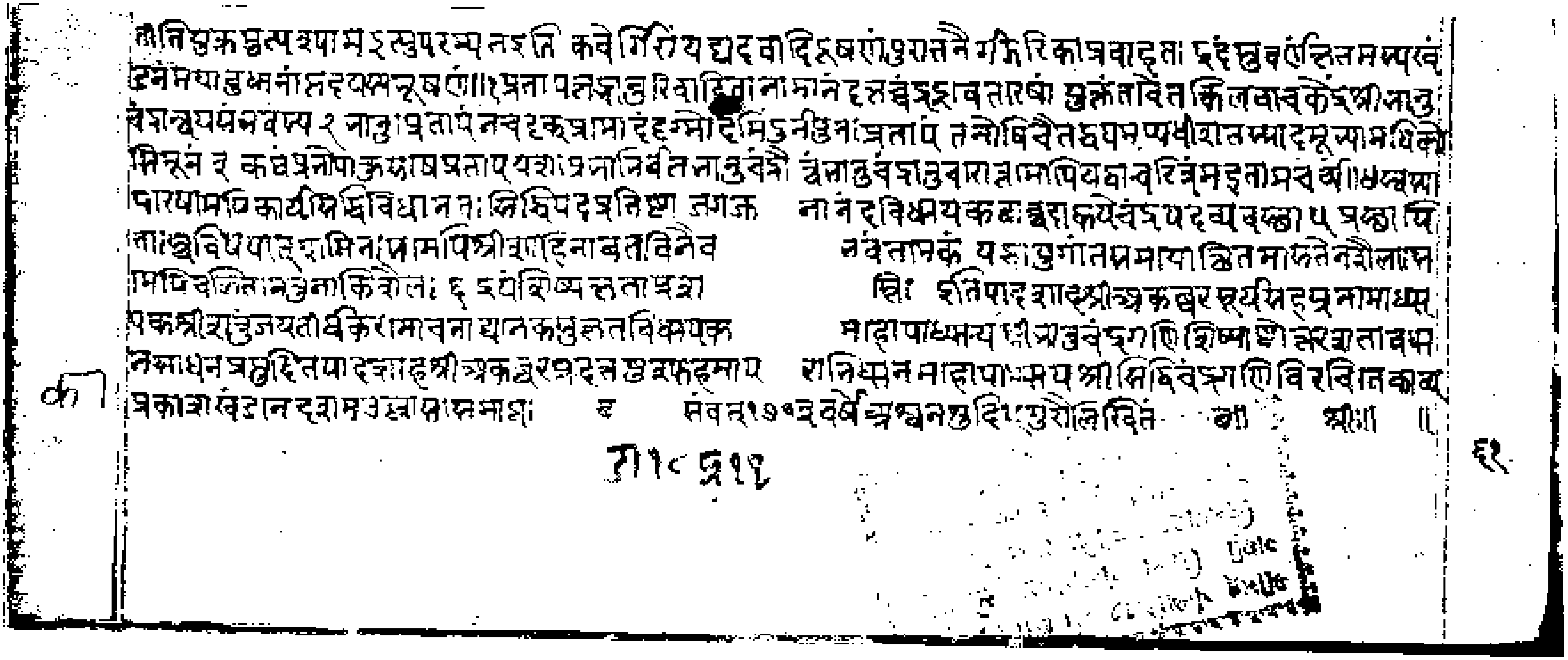

काव्यप्रकाशखण्डनकी प्राचीन पोथीका अन्तिम पृष्ठ

PREFACE

While searching for the Mss. of Siddhicandra's commentary on the Vāsavadattā of Subandhu in the Jñāna Bhaṇḍāra of Pannyāsa Saubhagya Vimalji at Ahmedabad, I saw, by chance, a Ms. bearing the title Kāvyaprakāśakhaṇḍana. Looking through it cursorily, I found that it contained a sort of commentary written with the object of criticizing Kāvyaprakāśa rather than explaining it. Dr. De, in his 'Sanskrit Poetics' Vol. I. p. 189 says, "A work called Kāvyāmṛtataraṅgiṇī or Kāvyaprakāśakhaṇḍana – apparently an adverse critique on Mammaṭa is entered in Mitra 2674." I thought that this was the Ms. of that work though it is nowhere called Kāvyāmṛtataraṅgiṇī. When I informed Muni Śrī Jinavijayaji, the general editor of the Singhi Jaina Granthmālā, of this work, he expressed a desire to publish the same in his Series, if I prepared a critical edition of the work. I searched for more Mss. of the work and got two more from the same Bhaṇḍāra. I have prepared the present edition of K. P. K. with the help of these Mss. and the printed editions of K. P. — particularly that of Jhalkikar (B. O. R. I. 1921).

I express my thanks to the trustees of the Saubhagya Vimal Bhaṇḍāra for lending me the Mss. and to Ācārya Jinavijayaji for accepting it for publication in the S. J. S. and also for various kinds of help in editing this work.

R. C. Parikh

* * *

ABBREVIATIONS

का. प्र. खं.	काव्यप्रकाशखण्डन. (The reference is to pages. Reference to Kārikās and Ślokas are preceded by का. and श्लो.)
ना. द.	नाट्यदर्पण. Gaekwar Oriental Series, Baroda.
भा. चं.	भानुचंद्रचरित. Singhi Jain Granthamala.
र. गं.	रसगंगाधर. Nirnaya Sagar Press, Bombay. Third revised edition, 1916.
सा. द.	साहित्यदर्पण, edited by M.M. Kane, 1923 and 1951.
B. C.	Bhānucaṇdracarita (S. J. S.)
J. O. R.	Journal of Oriental Research, Madras.

†

INTRODUCTION

Description of the Mss.

A. Paper Ms:-folios 61, length of each folio about 10″, breadth about $4\frac{1}{2}''$ with margins of about $\frac{3}{4}''$ on the left and the right and about $\frac{1}{2}''$ on the upper and the lower sides. Lines per page about 13, but the number of letters per line varies from 42 to 49 on account of the space in the middle, a practice, it may be noted in passing, in imitation of palm-leaf Mss. The middle space is about $1\frac{1}{2}'' \times 1''$. Writing is clear. The Ms. contains marginal notes.

This Ms. bears a seal in the Nasta' liq variety of Arabic script. Its colour is black. It reads: Bhan-chand murid-e-Khush Fahn 1008. It means: Khush Fahn (a man of pleasant intellect) the disciple of Bhanchand. (Hijri San) 1008 -(= A. D. 1599)[1]

The Ms. begins:– ॥ ६० ॥ ऐं नमः ॥ महोपाध्यायभानुचंद्रगणिभ्यो नमः । श्रेयःश्रियं तनुमतां तनुतां स शंभुः श्री अश्वसेनधरणीरमणांगजन्मा । etc.

ends:– नवीनास्तु एतान् दोषान् उक्तदोषेष्वंतर्भावयंतीति युक्तमुत्पश्याम इत्युपरम्यत इति । कवेर्गिरां यद्यदवादि दूषणं etc.........., चलिता न तु नाकिवौला: ॥ ६ ॥ इयं शिष्यकृता प्रशस्तिः । इति पादशाह श्री अकब्बरसूर्यसहस्रनामाध्यापक श्री शत्रुंजयतीर्थकरमोचनाद्यनेकसुकृतविधायक महोपाध्याय श्रीभानुचन्द्रगणि शिष्या-ष्टोत्तरशतावधानसाधनप्रमुदितपादशाह श्रीअकब्बरप्रदत्त पुष्फहमापराभिधान महोपाध्याय श्री सिद्धिचन्द्रगणि-विरचिते काव्यप्रकाशखण्डने दशम उल्लासः समाप्तः ॥ छ ॥ संवत् १७०३ वर्षे अश्विनशुदि ५ गुरौ लिखितं ॥ छ ॥ श्रीः ॥

Folio and line numbers given in the text are those of the A Ms.

B. Paper Ms.:— folios 62, length 10″, breadth $4\frac{1}{2}''$ with margins of about 1″ on the left and the right sides, and $\frac{1}{2}''$ on the upper and lower sides.

Lines per page about 13; the number of letters per line varies from 47 to 50 on account of the space in the middle which is about $1\frac{1}{2}'' \times 1''$. Writing is beautiful. The last two folios are in a bigger hand.

---

1 It may be remarked here that a similar seal is found in the middle space of the last page of a Ms. of Laghu Siddhanta-Kaumudi—another work of Siddhicandra. This Ms. also belongs to the Bhandara of Pannyâsa Saubhâgya Vimalji at Ahmedabad.

I am indebted to Prof. Saiyad Abu Zafar Nadvi and Dr. C. R. Nayak of of the B. J. Institute of Learning and Research for reading and interpreting both the seals for me.

Begins: as in A.

Ends: as in A, excepting that the folio 62a repeats शमिनः समेपि upto प्रशस्तिः and that at the end संवत् १७२२ वर्षे लषितं ॥ श्रीः ॥

This ms. also contains marginal notes.

C. Paper Ms.: folios 61, length 10", breadth 4¼" with margins of about ¾" on the left and the right sides and ½" on the upper and the lower sides. Lines per page about 13, the number of letters per line varies from 47 to 53 on account of the space in the middle which is about 1½" × 1". Writing is beautiful. Begins: as in A.

Ends: as in A. excepting संवत् १७२२ वर्षे लिपितं ।

The Present Edition.

If we compare the dates given in the colophons of these three Mss. we find that A was finished on Thursday the fifth of bright half Āśvina Samvat 1703 which comes to Sep. 23,1647 A. D., while B. and C. were finished nineteen years later (S. 1722) that is in 1666 A. D. A careful comparison of the Mss. shows that B. and C. are almost exact copies of the A. which bears the seal. Thus even though I had three Mss. for preparing the present edition they all belong to one archetype. This has been a handicap. It may, however, be pointed out that on the whole these Mss. give correct and reliable readings. As said in the preface, printed editions of K. P., particulrly that of Jhalkikar, were consulted on doubtful points.

The variations of our text from the Jh's edition have been pointed out in the foot-notes. The ṭippaṇas or marginal notes of the Mss. A and B also have been incorporated in the foot-notes.

Two Sūcis or indexes have been given at the end of the text-one of proper names and the other of sūtras, ślokas, etc. referred to in the text.

Kāvyaprakāśakhaṇḍana.

In the colophons at the end of all the Ullāsas the work is referred to as Kāvyaprakāśakhaṇḍana. In the introductory verse no. 3 however, the work is called Kāvyaprakāśavivṛti, but in no. 5 the author says 'खण्डनताण्डवं कुर्म्मः'. Thus the author's intention is to write a critical exposition and he, therefore, calls his Vivṛti (exposition:) K. P. Khaṇḍana, to distinguish it from mere expositions. In fact Siddhicandra wrote a big commentary in the name of his Guru[1].

1 अस्मत्कृतबृहट्टीकातोऽवसेयः। (पृ. २); गुरुनाम्ना मत्कृतबृहट्टीकातः। (पृ. ३४).

This Bṛhaṭṭīkā is not yet discovered and so we cannot say anything about the relation of K. P. K. to it—whether K. P. K. is a work culled from it or a separate work.

It will be seen from the numbers given to the Mūlakārikās that S. has left out several of them and that readings of some differ considerably from those of the published texts of K. P. These variations have been noted in the foot-notes (e g. pp. 7, 8 etc). The verse giving the definition of Doṣa (p.33) seems to be from a different work. He has, at some places, changed the order of Kārikās also, e. g. p.11. The Vṛtti on the Kārikās is dealt with only in parts.

At a few places the text seems to be in a disordered condition, vide, for example, pp. 78–79. As all the Mss, however, present the the text in this form I have not thought it proper to emend it.

Criticism of K. P.

S. describes his method of refutation in the very beginning of his work in the words तत्रानुवादपूर्वकं काव्यप्रकाशखण्डनमारभ्यते । (का. प्र. खं. पृ. १). He first explains and then refutes. For example, he deals with the first Kārikā नियतिकृतनियमरहितां etc. thus: नियतिरदृष्टं तत्कृतो नियमस्तद्रहितामित्यर्थः । अत एवोक्तम्–

> अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
> यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तते ॥ इति (का. प्र. खं. १)

This is anuvāda or exposition. Then follows cirticism thus: अयमर्थो न साधुः । काव्येऽपि नियमस्य सत्त्वात् । शब्दे छन्दःप्रभृतिषु तथा च तत्तद्रसविशेषे तत्तद्रीतिविशेषे तत्तत्प्रबन्धे भाषाविशेषे च नियमस्य सत्त्वात् (का. प्र. खं. ९).

This method, however, of first exposition and then criticism is not strictly adhered to. For example-ह्लादैकमयीमिति । इदमपि विरुद्धम् । अन्येषां भावानामिव काव्यस्यापि सुखदुःखमोहात्मकस्य संभवात् । (का. प्र. खं २).

S. assures us that he is not criticizing without proper reasons. He even defends Mammaṭa against improper interpretation or unfair criticism. For example while explaining the verse यः कौमारहरः स एव हि वरः he says अनेन वाक्येन तत्रोपक्रान्तसमागमोऽपि ध्वन्यत इति केचित् । तन्न । 'स एव हि वरः' इत्यनेन पुरुषान्तरनिषेधात् ।; and then lays down the dictum निष्कारणकदोषोद्भावनस्य च प्रामाणिकानामसम्मतत्वात् । (२ का. प्र. खं.).

Counting major points and minor details I find that there are more than sixty items that S. has tried to refute. I will touch here only a few major problems.

Criticizing the first Kārikā, S. rejects the views that the creation of the poet is not regulated by laws, that it is all joy, that it is independent of any other thing, and that Rasas are nine.

With the following two Kārikās also, he finds fault in some points.

Definition of Poetry.

Let us now consider his criticism of the definition of Kāvya. It is as follows:

अत्र केचित्–'अदोषत्वं यत्किञ्चिद्दोषाभावो वा यावद्दोषाभावो वा। नाद्यः, अव्यावर्तकत्वात्। नान्त्यः, तथासति काव्यलक्षणं निर्विषयं विरलविषयं वा स्यात्। यावद्दोषाणां दुर्निवारत्वात्। तस्माद् 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इति लक्षणम्। तथा च दुष्टेऽपि रसान्वये काव्यत्वमस्त्येव परन्त्वपकर्षमात्रम्। तदुक्तम्–

कीटादिविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः॥ इति।

एवं चालङ्कारादिसत्त्वे उत्कर्षमात्रत्वम्' इति वदन्ति।

परे तु 'यदंशे दोषस्तदंशेऽकाव्यत्वम्, यदंशे दोषाभावस्तदंशे काव्यत्वम्। यथा-एकमेव ज्ञानं प्रमाऽप्रमा चेति। दोषसामान्याभाव एव विवक्षणीय इत्याहुः।' तन्न। एकमेव पद्यं अंशे काव्यं अंशेऽकाव्यमिति व्यवहाराभावात्।

अन्ये तु 'दोषसामान्याभाव एव लक्षणे प्रवेश्यः। विरलविषयत्वं काव्यलक्षणस्येष्टमेव। 'दुष्टं काव्यं' इति प्रयोगस्य 'दुष्टो हेतुः' इतिवत् समर्थनीयत्वाद्' इति प्राहुः।

परे तु 'काव्यमास्वादजीवातुः पदसंदर्भः' इति वदन्ति। तन्न। आस्वादजीवातुतावच्छेदकरूपापरिचये तस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् तत्परिचये तस्यैव लक्षणत्वसंभवात्।

नवीनास्तु 'काव्यत्वमखण्डोपाधिः, चमत्कारजनकतावच्छेदकस्य काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तस्य चान्यस्य वक्तुमशक्यत्वात् तदेव लक्षणमस्तु। किमनेनाननुगतेन लक्षणेन' इति वदन्ति।

'सगुणौ' इति गुणव्यञ्जकौ इत्यर्थः। गुणानां रसैकधर्मत्वात् शब्दार्थयोः सगुणत्वाभावात्। 'अनलङ्कृती' इति 'सालङ्कारौ' इत्यर्थः।

यदपि 'काव्यत्वं शब्दार्थोभयवृत्ति' तदपि न। काव्यं करोति, काव्यं पठति शृणोति चेति व्यवहाराच्छब्द एव काव्यत्वं कल्पनीयम्। ननु 'आस्वादव्यञ्जकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम्, तच्च शब्देऽर्थे चाविशिष्टम्। तथा च कथं काव्यं करोतीति व्यवहारस्य शब्दमात्रपरत्वम्' इति चेत्, न। आस्वादव्यञ्जकानामन्येषां सत्त्वात् तेष्वपि काव्यत्वं स्वीकुरु। उभयवृत्तिकल्पने गौरवात् काव्यं करोतीति काव्यपदस्य शब्दमात्रपरत्वे बीजत्वात्। (३. का. प्र. खं.)

In the above passage we can see that S. adopts Viśvanātha's criticism of Mammaṭa's definition.[1] He himself, however seems to be one of the Navīnas, whose leader must have been Paṇḍita Jagannātha. काव्यत्वमखण्डोपाधिः may be compared with उपाधिरूपं वाऽखण्डम्- (र. गं. पृ. ८,) and his criticism of शब्दार्थौ with शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम्। etc. (र. गं. ५) Similarly शब्दार्थयोः सगुणत्वाभावात् may be compared with शब्दार्थयोः सगुणत्वविशेषणमनुपपन्नम् etc. of Viśvanātha[1]. काव्यमास्वाद-जीवातुः पदसंदर्भः is according to Mm. Kane, the view of Caṇḍīdāsa expressed in his commentary Kāvyaprakāśadīpikā[2].

---

1. See पृ. २.–३, सा. द. Kane's Edition 1923.
2. P. 339. Introduction to the third edition, S, D, 1951.

Varieties of Poetry

S.'s criticism of 'citrakāvya' may be compared with Viśvanātha's केचिच्चित्राख्यं तृतीयं काव्यभेदमिच्छन्ति...... तन्न। (५६. सा. द. Kane's edition 1923). His reference to Mahimabhaṭṭa in अनुप्रासानामसमीचीनत्वेन तथाविधगङ्गाविषयकभावोत्कर्षवर्णनाविरहाबाधानुत्तमत्वात्। अत एव महिमभट्टानामस्मिन् पक्ष एव पक्षपातः। (६. का. प्र. खं.) is not quite clear. Probably he refers to the passage अनुमेयार्थसंस्पर्शमात्रं चान्वयव्यतिरेकाभ्यां काव्यस्य चारुत्वहेतुर्निश्चितम्। अतस्तदेव वक्तव्यं भवति न त्वस्य प्राधान्याप्राधान्यकृतो विशेषः। न हि तयोः सामान्यविशेषयोस्त्रिष्वपि वस्तुमात्रादिष्वनुमेयेषु चेतनचमत्कारकारी कश्चिद्विशेषोऽवगम्यते। (२२. व्य. वि. T. S. S. 1909) He means to say that poems cannot be classified on the basis of predominance and subordination of very principle of poetry.

Rasa

We may now take up the topic of Rasa as another illustration of S.'s criticism of K. P. After explaining the Kārikās कारणान्यथ कार्याणि etc. (१५-१६, का. प्र. खं) he explains the experience of Paramānanda or super-joy of Rasa in the light of what he calls 'Vedāntinaya'. Here he seems to follow Jagannātha. Compare Rasagaṅgādhara, p. 22. But the view of the Navīnas he states as follows "तदपेक्षया कामिनीकुचकलशस्पर्शचन्दनानुलेपनादिनेव नाट्यदर्शनकाव्यश्रवणाभ्यां सुखविशेषो जायते। स एव तु रस इति नवीनाः। (१६. का. प्र. खं) This view puts the aesthetic pleasure on a par with ordinary sensual pleasures. In the discussion of Rasānanda or aesthetic pleasure this is really a moot point-viz., whether the aesthetic pleasure is like any other pleasure of life or its character is different! If the experience of the artistic representation of pleasure and pain is the same as the experience of these in life, what is painful in life would not give pleasure in poetry and therefore such sentiments as those of sorrow, anger, aversion etc. cannot become Rasas in poetry. Consistently with this view the Navīnas, therefore, hold that, there are only four Rasas, viz., Śṛṅgāra, Vīra, Hāsya and Adbhuta. S. says नवीनास्तु शृङ्गारवीरहास्याद्भुतसंज्ञाश्चत्वार एव रसाः। (१६. का. प्र. खं.) He further on refutes the claim of Karuṇa, Raudra etc. to Rasas in the words अथ करुणादीनां कथं न रसत्वमिति चेत्, उच्यते इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोके उच्यते।

तथा–

रौद्रशक्त्या तु जनितं वैक्लव्यं मनसो भयम्। दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सेति निगद्यते॥

तथा–

तत्त्वज्ञानाद् यदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्।

इत्यादिनियुक्तशोकादिप्रवृत्तिकानां करुणादीनां रसत्वनिषेधात्। न च तेषां तथाभूतत्वेऽपि अभिव्यक्तानन्दचिदात्मना सहाभिव्यक्तानां रसत्वमिति वाच्यम्। एवमपि स्थाय्यंशे रसत्वविरोधात्। अथालौकिकविभावाद्यभिव्यक्तानां तेषां रसत्वमुचितं सुरते दन्ताद्याघातस्यास्वाद्यवदिति चेत्, न। एवं क्षुधापिपासादिनानाविधदुःखहेतुजनितचेतोवैक्लव्यस्यापि रसान्तरत्वापत्तेः। सुरते दन्ताघातस्य बलवत्कामसंभवदुःखनाशकत्वेन भारापगमानन्तरं सुखिनः

संवृत्तास्स इतिवद् उपादेयत्वम् । यत् तु शोकादयोऽपि रत्यादिवत् स्वप्रकाशज्ञानसुखात्मका इति तदुन्मत्तप्रलपितम् । किञ्च सामाजिकेषु मृतकलत्रपुत्रादीनां विभावादीनां शोकादिस्थायिभावस्य चर्वणीयेन अजमहीपालादिना सह साधारण्यम्, अश्रुपातादिदर्शनात् । वर्णनीयतन्मयीभवनं चापेक्षितमिति चेत्, कथं ब्रह्मानन्दसहोदररसोद्बोधः, कथं वा नामाङ्गल्यम् । अत एव केचिदजविलापादिकं न पठन्ति । बीभत्से तु मांसपूयाद्युपस्थित्या वान्तनिष्ठीवनादिकं यत्र भवेत् तदेवाश्चर्यम् । कुतस्तादृशपरमानन्दरूपरसोद्बोध इति । एवं भयेऽपि । तथा शान्तस्य त्यक्तसर्ववासनेषु भवतु नाम कथञ्चिद रसत्वं, विषयिषु पुनः सर्वविषयोपरमस्थित्या कथं रसत्वम् । तदुक्तम्—

> न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा ।
> रसः प्रशान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ॥

एवं वीररौद्रयोर्न भेदः । विभवादिसाम्यात् । न च स्थायिभेद एव भेदकः । तस्यापि नियामकमुखप्रेक्षित्वात् । यत् तु—

> रक्तास्यनेत्रता रौद्रे युद्धवीरात् तु भेदिनी ।

इत्याहुः । तन्न । क्रोधसञ्चारिणि वीरे तस्याः सुलभत्वेन भेदकत्वानुपपत्तेः । न च रौद्रे अविवेकत्वस्य वीराद् भेदकस्य संभवात् भेद इति वाच्यम् । क्रोधसञ्चारिणि वीरेऽप्यविवेकत्वस्य संभवात् । दानवीरादीनां प्रभावातिशयवर्णन एव कवीनां तात्पर्यमिति न तेषां रसत्वम् । एवं वात्सल्यनामाऽपि न रसः । भावेनैव गतार्थत्वात् ।

ननु कथमजविलापादिकं कविभिर्वर्ण्यत इति चेत् उच्यते—तेषामजमहीपतिप्रभृतीनां स्वस्वप्रियानुरागप्रकर्षप्रतिपत्त्यर्थम् । अत एव चाजमहीपतेः स्वप्रियामिन्दुमतीं प्रति देहत्यागः कालिदासेन वर्णितः । एवं शान्तस्यापि वर्णनं मुमुक्षूणां वैराग्यातिशयप्रतिपत्त्यै । एवं भयातिशयवर्णनं तत्तद्व्यक्तीनां मार्दवप्रतिपादनाय । वस्तुतस्तु कविभिः स्वशक्तिप्रदर्शनार्थमेव पद्यबन्धावन्धादिनिर्माणवत् तत्र तत्र प्रवर्त्यत इति । (२१–२२ का. प्र. खं.)

In the above quotations there are two controversial points—the first about the pleasant nature of all the Rasas and second about the number of Rasas. The first controversy is very old. Bharata says यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाश्च [1]हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः । (९३ ना. शा. नि. सा. द्वि. सं.). Thus in this view it is held that the Rasas, presumably all, are pleasant. Those, however, who think that all the Rasas are not pleasant interpret the passage differently. As Abhinavagupta says अन्ये त्वादिशब्देन शोकादीनामत्र संग्रहः । (२९० ना. शा. Vol. I. G. O. S.). Abhinavagupta's own view is, however, that all Rasas are pleasant. He rejects the other opinion by saying स च न युक्तः । सामाजिकानां हर्षैकफलं नाट्यम्, न शोकादिफलम् । (ibid: He emphatically says अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते । तत्र का दुःखाशङ्का । केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापारस्तदुद्बोधने चाभिनयादिव्यापारः । (२९२ ibid).

It would be interesting to know who were the critics that held the view that all the Rasas are not pleasant. Dr. Raghavan notes the Sukha-Duḥkhātmakatā view of Rasa of one Rudrabhaṭa[2] given in

1. There are some mss. of N. S. which do not give this reading. The Chaukhamba edition has not accepted it, the G. O. S. edition, however, has it.
2. Different from Rudraṭa.

his Rasakalikā. He also refers to Haripāla's view regarding the painful nature of Vipralambha.[1] It is, however, Rāmacandra and Guṇacandra, authors of N. D. who have elaborately discussed the point in support of the view–सुखदुःखात्मको रसः। (ना. १०८. ना. द. G. O. S.). Their arguments being worth quoting as those of other Jain writers on the subject are given, the foot-note[2]. It may be noted here incidentally that great Jaina Ācārya Hemacandra, their guru, follows Abhinavagupta and accepts the general view.

The question is however, who were the Navīnas that held this view, and reduced, on that view, the number of Rasas to four.

A controversy had been raging round the question whether Śānta should be regarded as a Rasa or not and whether, therefore, the number of Rasas is eight or nine.

Bharata seems to have taken cognizance of only eight Rasas for dramatic purposes[3]. He, however, at one place says that the original Rasas are four — viz. Sṛṅgāra, Raudra, Vīra and Bībhatsa and that Hāsya, Karuṇa, Adbhuta and Bhayānaka are respectively derived from these (४०. ना. शा. नि. सा.). But the theory of S. is different. He does not reduce the number Rasas on the basis of the original and the derived; he does it on the very principle of Rasa. On this principle his Rasas are, as we have seen, Sṛṅgāra, Vīra, Hāsya and Adbhuta.

1. J. O. R. Madras, Vol. XI. pp. 113–14, 167.
2. स्वीकृतसाक्षात्कारित्वानुभूयमानावस्थो यथासम्भवं सुखदुःखस्वभावो रस्यते आस्वाद्यत इति रसः। तत्रेष्टविभावादिप्रथितस्वरूपसम्पत्तयः शृङ्गारहास्यवीराद्भुतशान्ताः पञ्च सुखात्मानोऽपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मानः करुणरौद्रबीभत्सभयानकाश्चत्वारो दुःखात्मानः। यत्पुनः सर्वरसानां सुखात्मकत्वमुच्यते, तत् प्रतीतिबाधितम्। आस्तां नाम मुख्यविभावोपचितः काव्याभिनयोपनीतविभावोपचितोऽपि भयानको बीभत्सः करुणो रौद्रो वा रसास्वादवतामनाख्येयां कामपि क्लेशदशामुपनयति। अत एव भयानकादिभिरुद्विजते समाजः। न नाम सुखास्वादादुद्वेगो घटते। यत् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते स रसास्वादविरामे सति यथावस्थितवस्तुप्रदर्शकेन कविनटशक्तिकौशलेन। विस्मयन्ते हि शिरश्छेदकारिणाऽपि प्रहारकुशलेन वैरिणा शौण्डीरमानिनः। अनेनैव च सर्वाङ्गाह्लादकेन कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते। एतदास्वादलौल्येन प्रेक्षका अपि एतेषु प्रवर्तन्ते। कवयस्तु सुखदुःखात्मकसंसारानुरूप्येण रामादिचरितं निबध्नन्तः सुखदुःखात्मकरसानुविद्धमेव ग्रथ्नन्ति पानकमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन दुःखास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते इति। अपि च सीताया हरणं, द्रौपद्याः कचाम्बराकर्षणं, हरिश्चन्द्रस्य चाण्डालदास्यं, रोहिताश्वस्य मरणं, लक्ष्मणस्य शक्तिभेदनं, मालत्या व्यापादनारम्भणमित्याद्यभिनीयमानं पश्यतां सहृदयानां को नाम सुखास्वादः। तत्रानुकार्यगताश्च करुणादयः परिदेवितानुकार्यत्वात् तावद् दुःखात्मका एव। यदि चानुकरणे सुखात्मानः स्युर्न सम्यगनुकरणं स्यात्, विपरीततया भासनादिति। योऽपीष्टादिविनाशदुःखवतां करुणे वर्ण्यमानेऽभिनीयमाने वा सुखास्वादः सोऽपि परमार्थतो दुःखास्वाद एव। दुःखी हि दुःखितवार्तया सुखमभिमन्यते। प्रमोदवार्तया तु ताम्यतीति करुणादयो दुःखात्मान एवेति। विप्रलम्भशृङ्गारस्तु दाहादिकार्यत्वाद् दुःखरूपोऽपि सम्भोगसंभावनागर्भत्वात् सुखात्मकः। रसश्च मुख्यलोकगतः प्रेक्षकगतः काव्यस्य श्रोत्रनुसन्धायकद्वयगतो वेति। (१५९. ना. द. G. O. S.)
3. See for an elaborate and excellent treatment of this topic Dr. Raghavan's articles on "The Number of Rasas" in J. O. R. Madras. Vols. X & XI.

Thus it would seem that S. accepts the view that Sukha is the principle of Rasa and that on that principle there could be only four Rasas. He makes use of the arguments of those who regard Rasa as Sukha-Duḥkhātmaka in showing that Karuṇa etc. are Duḥkhātmaka and then following the principle that Rasa by definition is Sukhātmaka rejects Karuṇa etc. as Rasas. Who were the other Navīnas who held this view I have not been able to find. Jagannātha, a contemporary of S. at the court of Jahāngir does not hold this view. He is a Kevalāhlādavādin केवलाह्लादवादिनां तु प्रकृतिरप्रत्यूहैव । (२६. र. गं.) who accepts all the nine Rasas on the authority of Bharata: स च नवधा । मुनिवचनं चात्र मानम् । (२९. र. गं.).

Minor Topics.

The two topics discussed above are major problems of Sanskrit poetics. S., however, in each Ullāsa has criticized many minor points also. For example after explaining Saṃlakṣyakrama Vyaṅgya he says ironically अत्रेदमवधातव्यम्-वस्त्वलंकृतिध्वन्योः क्रमः संलक्ष्यते, रसभावादिषु क्रमो न लक्ष्यते इत्यलंकारशास्त्रयोगिन एव प्रष्टव्या इति । (२५ का. प्र. खं.).

This may be compared with Jagannātha's view संलक्ष्यक्रमोऽप्येष [रसः] भवति । (र. गं. १०७).

So also after explaining the Kā. मुख्यार्थहतिर्दोषो etc. he says नवीनास्तु—एतन्मतनिष्कर्षस्तु रसापकर्षकज्ञानजनकज्ञानविषयत्वं दोषत्वम् , अपकर्षस्तु रसनिष्ठोऽखण्डोपाधिरिति । तथा च रत्याद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य आनन्दांशे लेशेन स्थितिर्मुख्यार्थहतिः । सा च दोषज्ञानाद् भवति । तत्र युक्तम् ।

उत्तिविसेसो कव्वो भासा जा होइ सा होउ ।

इति काव्यरसज्ञानां वाचोयुक्तिश्रवणात् । च्युतसंस्कृत्यादीनां मुख्यार्थहतित्वाभावात् , इत्याहुः । (३३–३४ का. प्र. खं).

In this Ullāsa of Doṣas, S. criticizes many points pertaining to interpretation and propriety. On the topic of Arthadoṣas, he says इत्येते प्राचीनैरर्थदोषाः कथितास्ते उक्तेषु शब्ददोषेष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक् प्रतिपादितार्हाः । (४५ का. प्र. खं) and then shows how these various Artha-Doṣas can be included in different Śabda-Doṣas. While discussing Rasa Doṣas, S. takes objection to regarding Śabda-vācyatā as a Doṣa with reference Vyabhicārins. Mammaṭa himself in the Kā. न दोषः स्वपदेनोक्तावपि संचारिणः क्वचित् । (का. ६३ उ. ७), concedes the point that sometimes it may not be a defect. S., however, says that to name the Saṃcārins is a positive Guṇa. तत्र नवीनाः प्रत्यवतिष्ठन्ते । व्यभिचार्यादीनां स्वशब्दवाच्यता न दोषाय किन्तु गुणायैव, तत्तदर्थानां शीघ्रोपस्थितिकरत्वात् । अत एव महाकवीनां तथैवोपनिबन्धात् । (५३ का. प्र. खं.)

In the discussion on the definition of Guṇa, S. gives the view of the Navīnas thus नवीनास्तु रसोत्कर्षहेतुत्वे सति रसधर्मत्वं इत्याहुः । (६३ का. प्र. खं.). While criticizing the verse निजनयन etc., he says इत्यास्वादहेतूनां गुणानामपलापः कर्तुमयोग्यः प्रकाशकृतामिति नवीनाः । (६८ का. प्र. खं).

‡

In the Ullāsa of Arthālaṁkāras, S. concerns himself mainly with showing how several Alaṁkāras can be included in others. For example he would include Viṣama and Vyāghāta in Virodha (८६-८७ का. प्र. खं.). After explaining the definition of Vibhāvanā, he says, वस्तुतस्तु कारणप्रतिषेधेपि कार्यवचनं विभावनेत्यन्ये । (८५ का. प्र. खं).

The few points discussed above will suffice to give an idea of the character of Kāvyaprakāśakhaṇḍana.

Siddhicandra.

Siddhicandra, the author of this work, is one of those notable Jain writers who have enriched not only the literature of their own faith but have also contributed to Sanskrit literature in general. He belongs to, what we might call, the last glorious period of Sanskrit literature or the period of Sanskrit renaissance in the times of the Mogul emperors Akbar, Jahāngir and Shāhjahān. In fact he is a luminary of the age of Paṇḍitarāja Jagannātha, who was his contemporary at the Mogul court.

As to the life and works of Siddhicandra, there is ample material which has been well exploited by the late Jain scholar Sri Mohanlal D. Desai in the introduction to his edition of BHĀNUCANDRA CARITA by our author, published in the S. J. S. In fact B. C. which is a sort of a biographical poem of his Guru Bhānucandra becomes in the fourth Prakāśa after the verse sixty seven, what Ācārya Jinavijaya Muni calls, the 'autobiography' of our author. Śri Desai, in the fourth section, viz., 'Summary of the Present Work', has given the substance of this portion at length and Ācārya Jinavijaya has noted salient points of the same in his preface as the General Editor of the Series. I shall, here, therefore, touch only a few noteworthy incidents.

S. in the narration of probably the most important event of his life gives us a clue to the year of his birth. This event we shall discuss later on. Jahāngir is represented as asking S. his age in the following verse

'परब्रह्मप्रसक्तानां व्यतीतानि कियन्ति वः । प्रारभ्य जन्मतोऽब्दानि' प्रोचुस्ते 'पञ्चविंशतिः' ॥
(श्लो. २३६ प्र. ४, भा. च. च.)

The events of banishment and recall that happened as a result of the discussion that followed are placed by Sri M. D. Desai before the autumn of 1613 A. D.[1] This would give us the year of S.'s birth as 1588 or 1587 A. D., if the banishment lasted for a year.

1. See his Introduction to B. C. p. 59 and footnote 90.

S. wrote his Jinaśataka-ṭīkā, as he himself says, in V. S. 1714 (1658 A. D.) and a Ms. of the present work, K. P. K., was copied in the V. S. 1722 (1666 A. D.) in his own life-time.[1] So he must have lived for at least 77 years. The exact year of his death is however unknown.

From his autobiographic account we learn that Siddhicandra was initiated in the Jain order when he was quite young, śiśu, as he calls himself and his elder brother. He describes his first introduction to Akbar in no modest terms. He does not blush to compare himself with Kāmadeva in beauty. (अनन्यजन्यसौन्दर्यमत्कृतशीतनूद्भवः; श्लोक. ७१. ibid),

In fact he refers to his physical strength and beauty at several places in the B. C.[2] He is very conscious of his unusual intellectual powers particularly his capacity of Avadhānas which earned for him the title of 'Khusfaham' from Akbar.[3] S. tells us that Akbar asked him to come daily and live with him in the company of his sons: त्वया मत्सूनुभिः सार्धं स्थेयमत्रैव नित्यशः । The importance however of this part of the narration lies in the information it gives about S.'s education at the court of Akbar. He describes it in the following verses:

> कदाचित् शाहिनाहूतः कदाचन पुनः स्वतः । असावन्तःसभं गच्छन्सर्वीयानथ तिष्ठति ॥ ८७
> **महाभाष्या**दिकान्येव नानाव्याकरणानि च । **नैषधादी**नि काव्यानि तर्कां**श्चिन्तामणी**मुखान् ॥ ८८
> **काव्यप्रकाश**प्रमुखानलङ्काराननेकशः । छन्दःशास्त्राण्यनेकानि नाटकान्यपि लीलया ॥ ८९
> अध्यैष्ट सर्वशास्त्राणि स्तोकैरेव दिनैस्ततः । शाहिना प्रेरितोऽत्यन्तं सत्वरं **पारसीमपि** ॥ ९०
> (प्र. ४. भा. च.)

The interesting thing to note from this is that Akbar asked him to study 'Pārasī' or Persian. There is a further reference to his study of Persian literature in the description of A.'s tour to Kashmir[4] in which he and his Guru accompanied the Emperor. He says that he

---

1 See p. 66, Introduction to B. C.

2 cf. also पुरः सारमिवाद्राक्षीद् भवभीत्या धृतव्रतम् । (श्लो. ७५) The pun on the word भव. may be noted.

3 अन्तःसभमथाहूय समक्षं सर्वभूभुजाम् । अवधानविधानादिपरीक्षां कृतवान् प्रभुः ॥ ८४
अतुलां तत्कलां चैनां दृष्ट्वा हृष्टो नमस्कृतः । विख्याते 'खुस्फहमे'ति तस्य नाम प्रदत्तवान् ॥ ८५, प्र. ४

4 The following verses are quoted as they briefly describe Akbar's tour to Kashmir. According to S., Akbar undertook this tour with a desire to see saffron flowers. See 30a.

> इतः काश्मीरकिञ्जल्कपुष्पोद्गमदिदृक्षया । प्रतस्थे पृथिवीनाथः पुनः श्रीनगरं प्रति ॥ १०२
> अमन्दानन्दसंपूर्णः **शाहिः** सत्कृत्य **वाचकान्** । सार्द्धमाकारयामास **सिद्धिचन्द्र**समन्वितान् ॥ १०३
> पठतः **पारसीग्रन्थां**स्तत्तनूजाङ्गजैः समम् । प्रातः पूर्वदिनाभ्यस्तं पुरः श्रावयतः प्रभोः ॥ १०४
> कुर्वतश्च नवीनस्तां **शाहेः** स्नेहार्द्रचेतसः । प्रसिद्धिः **सिद्धिचन्द्रस्य** सर्वत्र ववृधेतराम् ॥ १०५
> पर्वतान् **रत्नपंजाल-पीरपंजालकादिकान्** । हिमैरभ्रंलिहैस्तुङ्गशृङ्गानुल्लङ्घ्य दुर्गमान् ॥ १०६
> नमाद्गत्याथ **कश्मीरं** दृष्ट्वा **काश्मीरभूरुहान्** । प्रफुल्लकुसुमानोरोलोल्लोलम्बचुम्बितान् ॥ १०७
> स्थित्वा च कतिचिन्मासांस्तत्राश्चर्यदिदृक्षया । प्रत्यागत्य पुनर्लाभपुरं **शाहिरभूषयत्** ॥ १०८
> (त्रिभिर्विशेषकम् । प्र. ४, भा. च.)

used to study Persian books in the company of the Emperor's grandsons and recite them every morning in the presence of the 'Sāhi'. We know that Jagannātha also had studied Persian.[1]

There is one very important event in S.'s life referred to in the beginning, to which attention should now be drawn.

After Akbar S. became a favourite of Jahāngir also. That jovial and pleasure-loving Emperor did not like the idea that this young man with a good physique should pass an ascetic life of austerity, and so asked him to be in the company of fine young women and enjoy life. This episode has been narrated with great embellishment by S. Jahangir is reported to have asked him

"सौख्यं विषयिकं त्यक्त्वा किमात्मा तपसेऽर्पितः । (श्लो. २३९)

to which S. replies

नवे वयसि या दीक्षा नैव हास्याय सा सताम् ।
नहि पीयूषपानेऽपि प्रस्तावः प्रेक्ष्यते बुधैः ॥ (श्लो. २४०)

and so forth. Jahāngir is not so easily convinced and further argues with him. S. at this point describes him as drunk: कृतकादम्बरीपानविघूर्णितविलोचनः (श्लो. २४८)–a realistic touch. S. puts more cogent arguments for his conviction and the emperor listens to him with interest. With the emperor there is Nurjahān[2] who is very sceptical about the

1 See 13. Jagannātha Paṇḍita by V. A. Ramaswami Sastri. Annamalainagar. 1942.

2 S. describes the beauty of Nurjahān whom he refers to as Nuramahallā— which may be quoted here as a rare description of that great beauty by a Sanksrit writer.

मञ्जरी रूपवृक्षस्य पुष्पेषोरिव कामिनी । प्रभा सौभाग्यरत्नस्य लक्ष्मीर्लावण्यवारिधेः ॥ २५९
तदग्रमहिषी नूरमहल्लास्तेऽतिवल्लभा । जितं यासेव वक्त्रेन्दोर्नासीचस्याः स्मितं बहिः ॥ २६०
अङ्गुलिपल्लवोल्लासि नखांशुकुसुमाञ्चितम् । असेवि भूपभृङ्गमङ्क्षैर्यस्या बाहुलताद्युगम् ॥ २६१ युग्मम् ।
काञ्चीपट्टो नितम्बेऽस्ति मदभारोऽपि नो नयि । इतीव दुःखतस्तस्या मध्यदेशः कृशोऽभवत् ॥ २६२
अभितः शोभते यस्याः श्यामला कुन्तलावलिः । विभ्रमेण वक्त्रस्य रजनीवानुचारिणी ॥ २६३
वीक्ष्यमाणस्य विश्वेन लोचनाञ्जलनामभैः । यत्कण्ठो मुखराजस्य वेशासनमिवेक्ष्यते ॥ २६४
भाजेऽनुमीयमाना या विपंची मधुरस्वरैः । मुक्तावलीव भात्यस्या यन्मुखे दशनावली ॥ २६५
अब्ज एव क्रमौ यस्या न हंसो यदसेवत । गतिर्निर्जयलज्जैव जानीमस्तत्र कारणम् ॥ २६६
रत्नस्याः सकले गात्रे महान् दोषोऽयमेव हि । अपि वर्षशतैस्तुष्टिः पश्यतः कस्यचिन्नहि ॥ २६७
सत्यप्यन्तःपुरे तस्यां रेमे क्ष्मापतिरागतम् । लक्ष्ये नक्षत्रलक्षेऽपि चक्षुश्चन्द्रतनौ व्रजेत् ॥ २६८

S. refers to Nurjahān as Nurmahallā. Does this mean that before this was written she was not named Nurjahān? A man so familiar with Jahāngir and his court can be expected to know the latest news. If this is so we can say that the B.C. or at least this particular part must have been composed before 1616 A.D. as Nurmahal was named Nurjahān in that year. See pp. 317–18 Tuzūk–I–Jahāngirī, translated into English by Rogers and Beveridge R. A. S. London, 1909. I am indebted to my friend Sri. Ratnamanirao B. Jhote and Dr. C. R. Nayak for finding out this reference for me from T-I-J.

professions of this young man.

> तदा विश्वंभराभर्तुः साऽब्रवीत् प्राणवल्लभा ।
> 'तारुण्ये क्व मनःस्थैर्यमसंभाव्यमिदं वचः ॥ (श्लो. २६९)

S. retorts by quoting the example of the king of 'Balaksha'[1]

> बलक्षाधिपतिः किं न तारुण्येऽभूज्जितेन्द्रियः । (श्लो. २७०)

and defends his thesis before the Queen in the Tārkika style. Nurjahān haughtily (सयाभिभूता) answers the arguments. After the Queen finishes J. again joins issue and tries to show the absurdity of S.'s position and says "God created all thus for our enjoyment, and by obeying his command we shall be happy hereafter while you are unhappy here and will be so hereafter".[2] It is to be noted that S. has to concede– 'आदिष्टं सत्यमेवैतत् प्रियं न प्रभुभिः ।' but retorts by saying

> रक्तानां क्षोभयेच्चित्तं विरक्तानां तु न क्वचित् ॥ (श्लो. २९१).

As the last argument J. uses the theory of Syādvāda against this Syādvādin and tells him that to be insistent on any one thing is 'Mithyātva', the sin of heresy to be avoided by a Jain. S. replies that Syādvāda is not to be used for defending sinful acts; in fact there should be no Ekānta even in Syādvāda. The king gets angry and finally uses the argumentum ad baculum and terrifies the monk with mad elephant but ultimately banishes him from his court and orders him and his likes to live only in jungles–a fit place for them.

This episode in the poem describes a real event in S.'s life as it is corroborated by other sources also.[3] Some of the arguments advanced by Nurjahān and Jahāngir have a touch of reality, in as much as, they have a non-Hindu ring about them.

If the incident described here took place somewhere about 1613 A. D. we can say that B. C. was written when the whole thing must have been fresh in S.'s mind.

1 This reference to the king Balaksha might be the result of his study of Persian literature. The legend however seems to have been Indianised. Because S. says तथा चाह:

> सोलह सहस्स महेलिओ तुरी अठारह लक्ख ।
> सांइकेरइ कारणई छोड्या सहर बिलक्ख ॥

[Here the mention of sixteen thousand women probably reflects the Kṛṣṇa folklore. Here the reference may be to the famous saint by name Ebrahim Ibn Adham, a native of Balkh, B. C. f. n. 87. p. 54].

2 जगत्कर्त्रा कृतं सर्वमस्माकं भुक्तिहेतवे । तन्निर्देशं प्रकुर्वाणा अमेऽपि सुखिनो वयम् ॥ २९६
इहापि दुःखिनो यूयं परत्रापि च दुःखिनः । भविताश्चेश्वरप्रोक्तमार्गातिक्रमतत्पराः ॥ २९७

3 Vijaya-Tilaka-Sūri-Rāsa, Adhikāra I. See Sri Desai's Introduction p. 57 f. n. 88.

This incident may be compared with the Yavanī affair in Jagannātha's life.[1]

Later on, S. again became a favourite of Jahāngir and got such titles from him as 'Nādira-Jamān' (the unique of the age) and Jahāngir-pasand (Favourite of Jahāngir).[2]

Works of Siddhicandra.

Śrī Desai mentions the following nineteen works of S.

(1) Kādambarī-Uttarārdhaṭīkā.
(2) Śobhana-Stuti-ṭīkā.
(3) Vṛddha-prastāvokti-ratnākara.
(4) Bhānucāndra-caritam
(5) Bhaktāmarastotravṛtti.
(6) Tarkabhāṣā-ṭīkā.
(7) Sapta-padārthī-ṭīkā
(8) Jinaśataka-ṭīkā
(9) Vāsavadattāvṛtti or vyākhyā-ṭīkā
(10) Kāvyaprakāśakhaṇḍana.
(11) Anekārthopasarga-vṛtti
(12) Dhātumañjarī
(13) Ākhyāta-vāda-ṭīkā
(14) Prākṛta-subhāṣita saṅgraha
(15) Sūkti-ratnākara
(16) Maṅgala-vāda
(17) Sapta-smaraṇavṛtti
(18) Lekha-likhana-paddhati.
(19) Saṃskṣipta-Kādambarī-Kathānaka[6]

To this list of Śrī Desai two more works noted previously should be added, viz., (1) A Bṛhaṭṭīkā of Kāvyaprakāśa which S. composed in the name of his Guru. This work is attributed to Bhānucandra by Śrī Desai probably because he had not seen K. P. K. (2) Laghu-siddhānta-kaumudī. A paper ms. of this work lies in the Bhaṇḍāra of Dayāvimala, Ahmedabad. Sri Desai has given the beginnings and ends of other works. I give in the foot-note a description of this Ms.[3]

1 Some scholars do not regard this affair as historical. See pp. 19–21, Jagannātha Paṇḍita. In the light of this incident in S.'s life, however, the whole question requires to be examined properly.

2 See Introduction to B. C. p. 65.

3 Introduction to B. C. pp. 71–76.

The Ms. consists of 42 folios. It begins:

ॐनमः श्रीगणेशाय ॥ महोपाध्यायश्रीभानुचंद्रगणिभ्यो नमः ।

Sanskrit Renaissance in the Moghal Period.

I referred earlier to the Sanskrit Renaissance in the Moghal Period – particularly in the reigns of Akbar, Jahāngir and Shāhjahān. We know that Jagannātha who was given the title of Paṇḍitarāja by Shāhjahān at the instance of Asafkhan lived in this age.[1] Prof. V. A. Ramaswami Sastri in his work 'Jagannātha Paṇḍita' refers to about sixteen contemporaries[2] of whom Kavindrācārya Sarasvatī was a protege of Shāhjahān. Śri Desai in his introduction to B. C. gives an account of thirteen Jaina priests at the court of Akbar and thirteen at the court of Jahāngir – some of whom are common.[3] The Jain writers of the age were, however, many more than these.[4] A review of the works of Brahmanical and Jain writers of the sixteenth and the seventeenth centuries would show that it was an age of vigorous literary and philosophical activity in India as a whole and as the instances of Padmasundara – author of Akabaraśāhi – Śṛṅgāra-darpaṇa[5], Hīravijayasūri, Jagannātha, Bhānucandra, Siddhicandra and Kavīndrācārya Sarasvatī would prove, Sanskrit learning received encouragement and patronage in the courts of Akbar, Jahāngir and Shāhjahān.

A note on Siddhicandra and Jagannātha

The parallel references given above from Rasagaṅgādhara and a more detailed comparison of K. P. K. and R. G. would go to show that there are many ideas which S. and Jagannātha hold in common and that in several cases even phrasing is identical; though they differ

---

वाग्देवीमभिवंद्य वंद्यचरणं वृन्दारकाणां गणैः
सर्वेषां सुधियामनुग्रहधियां गंभीरभावाद्भुतम् ।
व्याकरणं विदधाति वाचकपतिः श्रीसिद्धिचंद्राभिधः
शाहिश्रीमदकब्बरक्षितिपतेः प्राप्तप्रतिष्ठोदयः ॥ १

It ends: शास्त्रान्तरेऽप्रविष्टानां बालानां चोपकारिका । निर्मिता सिद्धिचंद्रेण लघुसिद्धान्तकौमुदी ॥ १
इति पादसाह श्री अकबर etc. श्रीसिद्धिचंद्रगणिविरचिता लघुसिद्धांतकौमुदी समाप्ता ॥ छ ॥ लेखकपाठकयोः शुभं भवतु । यादृशं पुस्तके दृष्टं etc. संवत् १७०२ वर्षे फाल्गुन शुदि २ तिथौ भृगुदिने लिखितं ॥ छ ॥ श्रीः ।
The last page 42–b. contains a seal.

1 p. 15. Jagannatha Paṇḍita.

2 7 Ibid. (1) Khaṇḍadevamiśra, (2) Jagadīśatarkulaṁkāra (3) Gadādharabhaṭṭācārya, (4) Bhaṭṭoji Dikṣita, (5) Nārāyṇabhaṭṭa (of Malabar) (6) Nilakaṇṭha Dikṣita, (7) Rājacūḍāmaṇi Dikṣita, (8) Veṅkaṭādhvarin, (9) Cokhanāthamakhin, (10) Dharmarājadhvarindra, (11) Rāmabhadrambā, (12) Madhuravāṇī (13) Kavīndrācāryasarasvatī (14) M.M. Viśvanātha Pancānana (15: Rāmabhadra Dikṣita, (16) Madhusūdana Sarasvatī.

3 pp. 1–22, Introduction to B. C.

4 See Śri M. D. Desai's Gujarati work–"Jaina Sahitya-no Itihāsa" pp. 535–651.

5 Published in the Ganga Oriental Series, Bikaner 1943.

in their theories of Rasa. This naturally raises the question whether S. was familiar with R. G. or not. That both, he and Jagannātha were contemporaries at the court of Jahāngir, if not those of Akbar and Shāhjahān – becomes probable from a comparison of their dates. S. lived from circa 1587 to circa 1666 A. D. and must have frequented the courts of Akbar and Jahāngir between 159· and 1627 (Jahāngir died 7, Nov. 1627). Jagannātha is placed between circa 1590 to 1665 A. D. and enjoyed the patronage of Jahāngir, Shāhjahān and Dārā Shukoh between 1620 and 1650 A. D.[1]. It is likely that they might have been in some contact. But it is not possible to say whether S. was familiar with R. G. The earliest Ms. of K. P. K. that is known was finished in 1647 A. D. while about R. G. we can only say that it might have been written before 1652 A. D.[2] From the frequent references to Navīnas in both the works it seems that a new school of poetic criticism had come to be recognized as in Nyāya and so both S. and J. must have drawn upon the common ideas of Navīnas.

---

1 Jagannātha Paṇḍita. p. 25.
2 Ibid., pp. 25-26.

महोपाध्याय-श्रीसिद्धिचन्द्रगणिविरचितं

काव्यप्रकाशखण्डनम् ।

॥ ऐं नमः ॥ महोपाध्याय-श्रीभानुचन्द्रगणिगुरुभ्यो नमः ॥

श्रेयःश्रियं तनुमतां तनुतां स शम्भुः श्रीअश्वसेनधरणीरमणाङ्गजन्मा ।
उत्कण्ठिता त्रिपथगानिभतन्निमूर्त्तिर्व्यालोकते त्रिजगतीमिव यस्य कीर्तिः ॥ १

जीयाच्छ्रीमदुदारवाचकसभालङ्कारहारोपमो
लोके संप्रति हेमसूरिसदृशः श्रीभानुचन्द्रश्चिरम् ।
श्रीशत्रुञ्जयतीर्थशुल्कनिवहप्रत्याजनोद्यद्यशाः
शाहिश्रीमदकब्बरार्पित 'महोपाध्याय' इत्यत्पदः ॥ २

शाहेरकब्बरधराधिपमौलिमौलेश्चेतःसरोरुहविलासषडंह्रितुल्यः ।
विद्वच्चमत्कृतिकृते बुधसिद्धिचन्द्रः काव्यप्रकाशविवृतिं कुरुतेऽस्य शिष्यः ॥ ३

मात्राः क्वापि गिरो गुरोरिह परं दूष्यं परेषां वचो-
वृन्दं मन्दधियां वृथा विलपितं नासाभिरुद्भावितम् ।
अत्र स्वीयविभावनैकविदितं यत् कल्पितं कौतुकाद्
वादिव्यूहविमोहनं कृतधियां तत्प्रीतये कल्पताम् ॥ ४

पररचितकाव्यकण्टकशतखण्ड[खण्ड]नताण्डवं कुर्मः ।
कवयोऽद्य दुर्दुरूढाः स्वैरं खेलन्तु काव्यगहनेषु ॥ ५

ॐ

तत्रादावनुवादपूर्वकं काव्यप्रकाशखण्डनमारभ्यते ।

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥ (मू॰ का॰ १)

नियतिरदृष्टं तत्कृतो नियमस्तद्रहितामित्यर्थः । अत एवोक्तम्—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्त्तते ॥ इति ।

अयमर्थो न साधुः । काव्येऽपि नियमस्य सत्त्वात् । शब्दे छन्दःप्रभृतिषु तथा च तत्तद्रसविशेषे तत्तद्रीतिविशेषे तत्तत्प्रबन्धे भाषाविशेषे च नियमस्य सत्त्वात् । अर्थेऽपि

मुखादिकं चन्द्रत्वादिनैव वर्ण्यते नान्येनेति नियम[स्य] सत्त्वात् । 'अथ शब्दार्थौ काव्य'मित्युच्यते । अर्थे तु नित्यानित्यसाधारणे नादृष्टजन्यत्वमस्तीति चेन्न । अर्थे काव्यत्वस्य निराकरिष्यमाणत्वात् । 'ह्लादैकमयी'मिति । इदमपि विरुद्धम् । अन्येषां भावानामिव काव्यस्यापि सुख-दुःख-मोहात्मकत्वस्य संभवात् । 'अनन्यपरतन्त्रा'मिति । इदमपि न चारु । तथा हि अत्रान्यपदस्य भारत्यन्यत्वस्य वक्तव्यत्वे भारत्यन्यकवितत्प्रतिभादेः काव्ये कारणत्वसंभवात् । 'नवरसरुचिरा'[पृ० १.२]मिति । नवरसा चासौ रुचिरा चेति कर्मधारयः । वृत्तौ 'षट्(ड्)रसा ह्या न तैरि'ति व्यक्तिद्वयदर्शनात् । अथवाऽस्तु तृतीयातत्पुरुषः । न च नवरसीति प्रयोगापत्तिः । त्रिभुवनमित्यादिप्रयोगवदस्यापि सिद्धेः । इदमप्यसाधीयः । बीभत्सादीनां रसत्वस्य निराकरिष्यमाणत्वात् । रसे नवत्वासंभवात् ।

अथ काव्यस्य फलम्—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यःपरिनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ (मू० का० २)

इदमप्युपलक्षणम् । काव्यस्य परमेश्वरस्तवादिरूपतया चतुर्वर्गस्यैव साधनत्वादिति ।

अथास्य कारणम्—

शक्तिर्निपुणता लोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ (मू० का० ३)

अत्र तस्य काव्यस्य उद्भवे निर्माणे समुल्लासे त्रयः शक्ति-निपुणताऽभ्यासा हेतुरित्युक्तम् । तदपि तुच्छम् । डिम्भादावपि काव्योद्भवदर्शनात्, शक्तेरेव हेतुत्वात् ।

अथास्य लक्षणम्—

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि । (मू० का० ४, पू०)

तथा च अदोषत्वे सति सगुणत्वे च सति स्फुटालङ्काररसान्यतरवत्त्वं काव्यत्वमिति फलितार्थः । '**क्वचित् तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः** ।' नञोऽल्पार्थत्वात् । अल्पत्वस्य चात्रास्फुट एव विश्रान्तेः । स्फुटालङ्कारविरहोदाहरणं यथा—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः ।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥

अनेन वाक्येन तत्रोपक्रान्तसमागमोऽपि ध्वन्यत इति केचित् । तन्न । 'स एव हि वर' इत्यनेन पुरुषान्तरनिषेधात् । निष्कारणकदोषोद्भावनस्य च प्रामाणिकानामसम्मतत्वात् । वयं

१ 'वर' इति मुद्रितपाठः । २ 'लोके शास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्' इति मु. पा. ।

तु शोभाविशेष एवोत्कण्ठाकारणमिति ब्रूमः । यद्यपि कतिपयाक्षराणामत्र द्विरावृत्तिरस्तीत्यनुप्रासः संभाव्यते । तथापि – 'स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुह[पृ० २.१]रच्छातेतराम्बुच्छटा मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्ष'त्यादिवच्चतुष्पञ्चाद्यावृत्त्या [अ?]भावान्नात्र स्फुटताऽनुप्रासस्येति गम्यम् । विशेषविचारस्त्वस्मत्कृतबृहट्टीकातोऽवसेयः । अत्र केचित् – 'अदोषत्वं यत्किंचिद्दोषाभावो वा यावद्दोषाभावो वा ? । नाद्यः, अव्यावर्तकत्वात् । नान्त्यः, तथासति काव्यलक्षणं निर्विषयं विरलविषयं वा स्यात् । यावद्दोषाणां दुर्निवारत्वात् । तस्माद् 'वाक्यं रसात्मकं काव्यमि'ति लक्षणम् । तथा च दुष्टेऽपि रसान्वये काव्यत्वमस्त्येव परन्त्वपकर्षमात्रम् । तदुक्तम्–

> कीटादिविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता ।
> दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः ॥ इति ।

एवं चालङ्कारादिसत्त्वे उत्कर्षमात्रत्वम्' इति वदन्ति । परे तु 'यदंशे दोषस्तदंशेऽकाव्यत्वम्, यदंशे दोषाभावस्तदंशे काव्यत्वम्, यथा एकमेव ज्ञानं प्रमाऽप्रमा चेति. दोषसामान्याभाव एव विवक्षणीय' इत्याहुः । तन्न । एकमेव पद्यं अंशे काव्यं अंशेऽकाव्यमिति व्यवहाराभावात् । अन्ये तु 'दोषसामान्याभाव एव लक्षणे प्रवेश्यः, विरलविषयत्वं काव्यलक्षणस्येष्टमेव, दुष्टं काव्यमिति प्रयोगस्य दुष्टो हेतुरितिवत् समर्थनीयत्वाद्' इति प्राहुः । परे तु 'काव्यमास्वादुजीवातुः पदसंदर्भ' इति वदन्ति । तन्न । आस्वादजीवातुतावच्छेदकरूपाऽपरिचये तस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् । तत्परिचये तस्यैव लक्षणत्वसंभवात् । नवीनास्तु 'काव्यत्वमखण्डोपाधिः, चमत्कारजनकतावच्छेदकस्य काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तस्य चान्यस्य वक्तुमशक्यत्वात्, तदेव लक्षणमस्तु, किमनेनाननुगतेन लक्षणेन' इति वदन्ति ।

'सगुणावि'ति गुणव्यञ्जकावित्यर्थः । गुणानां रसैकधर्मत्वात् शब्दार्थयोः सगुणत्वाभावात् । 'अनलङ्कृती' इति सालङ्काराविलर्थः ।

यदपि 'काव्यत्वं शब्दार्थोभयवृत्ति' तदपि न । काव्यं करोति, काव्यं पठति, शृणोति चेति व्यवहाराच्छब्द एव काव्यत्वं कल्पनीयम् । ननु आस्वादव्यञ्जकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम्, तच्च शब्देऽर्थे चावि[पृ० २.२]शिष्टम्, तथा च कथं काव्यं करोतीति व्यवहारस्य शब्दमात्रपरत्वम् ? इति चेत् न । आस्वादव्यञ्जकानामन्येषामपि सत्त्वात् तेष्वपि काव्यत्वं स्वीकुरु । उभयवृत्तित्वकल्पने गौरवात् काव्यं करोतीति काव्यपदस्य शब्दमात्रपरत्वे बीजत्वात् ।

अथ काव्यभेदानाह –

इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥

(मू० का० ४, उ०)

व्यङ्ग्ये वाच्यात् अतिश[यि]नि अधिकचमत्कारकारिणि सति उत्तमं काव्यम् । बुधैर्वैया-

---

१ 'विजातीयसुखाभिव्यक्तिजनकतावच्छेदकस्येत्यर्थः ।' इति मूलादर्शे टिप्पणी ।

करणैर्यथा स्फोटव्यञ्जकशब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः, तथाऽन्यैरपि आलङ्कारिभिर्वा-च्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य । अत्रेदं बोध्यम् । स्फुटयत्यर्थमिति स्फोटः । ननु शब्दात् कथं पदार्थवाक्यार्थधीः ?. आशुविनाशिनां क्रमिकाणां मेलकाभावाद्, आनुपूर्व्याः ज्ञातुमशक्यत्वाच्च । तेन च पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृतेन अन्तिमवर्णानुभवेन स्फोटो व्यज्यते । स च ध्वन्यात्मकः । शब्दो नित्यो ब्रह्मस्वरूपः सकलप्रत्यायनक्षमोऽङ्गी-क्रियते । तद्व्यञ्जकश्च वर्णात्मकः शब्दः । वृत्तिस्तु व्यञ्जनैव । तद्व्यञ्जकः शब्दो ध्वनित्वेन व्यवह्रियत इति वैयाकरणमतम् । तदसत् । एवमन्तिमवर्णानुभवस्यैव पदार्थप्रतीतिक्षमत्वे आनुपूर्वीज्ञानस्योपायसंभवेन किमन्तर्गडुना स्फोटेन ? ।

नायकानयनाय प्रेषितां तं संभुज्य समागतां दूतीं प्रति काचित् स्नानकार्यप्रदर्शन-मुखेन संभोगं प्रकाशयति —

> निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
> नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
> मिथ्यावादिनि दूति ! बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमा(मे ?)
> वापीं स्नातुमितो गताऽसि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥

इदमुत्तमं काव्यम् । अस्यार्थः — दूतस्य मिथ्याभाषणं स्वभावः इति दूति(ती). न तु सखी. सखीत्वे मत्प्रतारणं मत्प्रियसंभोगश्च न स्यात् । उद्देश्यकार्यानिर्वाहकतया बान्धवजनस्य पीडा भवति तन्न जानासि । तस्य नीचाभिलाषित्वेन प्रसिद्धस्य अतः अधमस्य । नीच[पृ० १.१]कार्य-कर्तुः प्राधान्येन । अधमशब्दस्य पदान्तरापेक्षया झटिति प्रकृतार्थव्यञ्जकत्वेन प्राधान्यम् । अत्र स्तनतटं निःशेषश्रु(च्यु)तचन्दनं, न स्तनसन्ध्यादि. तत्र तथाविधनायककरस्पर्शायोगात् । एवमधरः परौष्ठः, तत्र रागो निर्मृष्टः, न तु पूर्वोष्ठे, तत्र चुम्बननिषेधात् । एवं नेत्रमध्ये चुम्बननिषेधात् दूरत एव निरञ्जने । एतत् सर्वं रत एव संभवति न तु स्नाने । स्नानं चेत् सर्वविच्छेदेनैव चन्दनच्यवनादि स्यात् । तथा च तथाविधचन्दनच्यवनादीनां रतैकसाध्यानां स्नानकार्यत्वबोधेन स्नातुं गताऽसीत्यत्र निषेधो न गताऽसीत्यत्र विधिश्च लक्ष्यते । न च निषेधे कथं लक्षणेति वाच्यम् । अन्यथाऽसंगत्यापत्तेः । रन्तुमिति प्रयोजनं चेत्याहुः । तन्न । तथाविधानामपि चन्दनच्यवनादीनां स्नानकार्यत्वं संभवत्येव । तथा हि — वापीं स्नातुं गताऽसि न तु गृहम् । एतच्च विशिष्य वापीपदोपादानात् लक्ष्यते । तथा, स्तनतट एव निश्शेषच्यु-तिर्न स्तनसन्ध्यादिषु । वापीतीरस्य जनसङ्कीर्णतया तथाविधमार्जनाभावाद्, गृह एव तत्संभवात् । तथा, पूर्वोष्ठस्य न्युब्जतया बहलजलसम्बन्धाभावात्, न तत्र निश्शेषरागच्युतिः । किन्तु अधर एव, उत्तानत्वेन बहलजलसम्बन्धात् । तथा, स्नानकाले मुद्रणात् नेत्रमध्ये नाञ्जनराहित्यम्, किन्तु दूरत एव । इत्यादिरूपेण स्नानकार्यत्वस्य संभवात् बाधकाभावात् कथं लक्षणा ? नवीना(नः ?)स्तु वक्तृबोद्धव्यवैशिष्ट्यात् व्यञ्जनैव तदाह । तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽसीति व्यज्यत इति । मिश्रास्तु 'न गताऽसीति नञि काकुः, न गताऽसि ? अपि तु गताऽस्येवेत्यर्थः ।

'तदन्तिकमेव' इत्येवकारो गताऽसीत्यनन्तरं योज्य' इत्याहुः। अत्र त्वय्यकृतज्ञायां बान्धवबुद्ध्या यद् विश्वसिमि, यच्च तत्र दुर्विदग्धे दृढमनुरक्तास्मि, तद् युक्तमेव। मय्येवंविधवञ्चनपात्रत्वमितीर्ष्याहेतुकविप्रलम्भभेदसंचारिनिर्वेदध्वनिः, तदनुगुणश्च दूतीसंभोगः, चन्दनच्यवनादीनां च वाच्यानां [पृ० ३.२] परिरम्भचुम्बनादीनां संभोगोत्कर्षद्वारेणेर्ष्याया उत्तेजकानां निर्वेदोत्कर्षकत्वमवसेयम्।

अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्। (मू० का० ५, पू०)

व्यङ्ग्ये वाच्यात् अनतिशायिनि अधिकचमत्काराकारिणि गुणीभूतव्यङ्ग्यं तन्मध्यमं काव्यम्। चित्रान्यत्वेऽपीति विशेषणम्। तेन चित्रे नाव्याप्तिः। उदाहरणम्—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया॥

अत्र वञ्जुल[लता]गृहे दत्तसङ्केता नागतेति व्यङ्ग्यं गुणीभूतम्, तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात्।

अत्र व्यङ्ग्येन सङ्केतभङ्गेन विप्रलम्भाभासस्य वाच्यवदनकान्तिमालिन्यमुखेनैव परिपोषणमिति तन्मुखप्रेक्षित्वात् तस्य गुणीभूतत्वमिति। आन्तरालिकव्यङ्ग्यापेक्षया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्, रसापेक्षया रसध्वनित्वमित्यवधेयम्।

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्॥ (मू० का० ५, उ०)

अव्यङ्ग्यं चित्रमिति सामान्यलक्षणम्। शब्दचित्रं वाच्यचित्रमिति विभागः। **चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तम्।** यत्र तयोरेव प्राधान्येन चमत्कारकारित्वमित्यर्थः। **अव्यङ्ग्यं स्फुटप्रतीयमानव्यङ्ग्यरहितम्। अवरं अधमम्।** तत्र शब्दचित्रमाह—

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाऽह्नाय वः।
भिन्द्यादुद्यदुदारदर्दुरदरी दीर्घादरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम्॥

मन्दाकिनी वः युष्माकं अह्नाय झटिति मन्दतां भिन्द्यादित्यन्वयः। स्वच्छन्दं स्वाधीनं न तु वातादिपरतन्त्रम्। उच्छलदित्यम्बुविशेषणम्। कच्छे जलसमीपे तरङ्गैः खननात् यत्कुहरं बिलं छातमल्पं तदितरत् छटा परम्परा तया मूर्च्छन् प्रादुर्भवन् मोहो वैचित्त्यं विस्मयो वा येषाम्। दर्दुरः पर्वतविशेषः तस्य दर्यां गुहायां दैर्घ्यं यस्मात्तां भित्त्वा झटिति जलनिर्गमनेन दैर्घ्यं न तु तत्र तया जलस्थगनं तेन वेगातिशयः। केचित् तु 'मन्दाकिनी [पृ० ४.१] गङ्गा, दर्दुरो भेको न तु पर्वतविशेषः, तस्य दक्षिणदिग्गिरित्वेन गङ्गासम्बन्धाभावात्' इत्याहुः। अदरिद्राः परिणाहोच्छ्रायादिवन्तः, द्रोहः पातनं उद्रेक आधिक्यं तन्मयास्तद्युक्ता ये तरङ्गाः त एव निबिडः स्निग्धो वा मदोऽहङ्कारो यस्याः।

अर्थचित्रमाह —

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम् ।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥

मानदमिति शत्रूणां मानस्य खण्डकं मानस्य दातारं हयग्रीवदैत्यं स्वगेहात् प्रस्थितं श्रुत्वाऽपि भिया अमरावती निमीलितनेत्रेव भवति । कीदृशी ? ससंभ्रमेण सभयेनेन्द्रेण द्रुतं शीघ्रं पातिता दत्ता अर्गला द्वारदण्डो यस्याः सा तादृक् ।

'संभ्रमः साध्वसेऽपि स्यात् संवेगादरयोरपि' — इति विश्वः ।

अत्र तूत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । परन्तु रसादौ कथं तात्पर्यविरहोऽस्फुटतरत्वं वा तन्न ज्ञायते । हयग्रीवस्य वर्णनीयतत्प्रभावस्य स्फुटप्रतीतेः ।

अत्र केचित् — 'चित्रं न काव्यभेदः । व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येन प्रतीतौ ध्वनित्वं तदन्यथागुणीभूतत्वमिति प्रकारान्तराभावादिति ।' तन्न । वाच्य-वाचकवैचित्र्यप्रतीतिव्यवहितप्रती[ति]-करसवत्त्वस्यास्फुटव्यङ्ग्यत्वस्य तृतीयप्रकारस्य संभवात् । ननु रसध्वनित्वादिना अयं तृतीय-विभागः कृतः । स च नोपपद्यते । तथा हि — एतेषु त्रिषु सर्वत्र रसादिकं प्रतीयते न वा । नान्त्यः, तदा यत्र रसादिकं न प्रतीयते तत्र काव्यत्वविरहापत्तेः । नाद्यः, तदा कथं ध्वनित्वादिविभागः ? । न च मध्यमे व्यङ्ग्यस्याप्राधान्याद् विभाग इति वाच्यम् । आन्तरालिकव्यङ्ग्यस्याप्राधान्येऽपि तस्याकिञ्चित्करत्वेन चमत्कारापेक्षया सर्वेषां ध्वनित्व-संभवात् । अथ चित्रे गुणालङ्काराहितचमत्कारेण रसस्तिरोधीयत इति चित्रत्वम्, इति चेत्, न, अनवबोधात् । तिरोधीयत इत्यस्य कोऽर्थः ? रसादेः प्रतीतिप्रतिबन्धो विलम्बेन प्रतीतिर्वा ? । नाद्यः, तथा सति काव्यत्वविरहापत्तेः । नान्त्यः, गुणालङ्कारा हि रसोद्बोधकाः । [पृ० ४.२] तथा च तज्ज्ञानतदाहितचमत्कारान्तरं रसोद्बोधो युज्यत एवेति कथं न ध्वनित्वम् ? अत एव रसध्वनावपि गुणालङ्काररचना साधीयसी महाकवीनां दृश्यते । यथा—

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्थितं चेतः ।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य ॥ इत्यत्र ।

ननु तर्हि 'स्वच्छन्दे'त्यादावपि पूर्वोक्तपद्यवद् ध्वनित्वे उत्तमत्वं स्यात्, इति चेन्न । अनुप्रासानामसमीचीनत्वेन तथाविधगङ्गाविषयकभावोत्कर्षवर्णनाविरहाच्चानुत्तमत्वात् । अत एव महिमभट्टानामस्मिन् पक्ष एव पक्षपातः ।

॥ इति पादसाह-श्रीअकब्बरसूर्यसहस्रनामाध्यापक-श्रीशत्रुञ्जयतीर्थकरमोचनाद्यनेकसुकृतविधापक-महोपाध्याय-श्रीभानुचन्द्रगणिशिष्याष्टोत्तरशतावधानसाधनप्रमुदितपादसाह-श्रीअकब्बरजलालदीनप्रदत्त-षु(खु)स्फहमापराभिधानमहोपाध्याय-श्रीसिद्धिचन्द्रगणिविरचिते काव्यप्रकाशख(ख)ण्डने प्रथम उल्लासः ॥

ॐ

द्वितीय उल्लासः ।

इदानीं शब्दार्थयोः स्वरूपमभिधातुं तयोर्विभागमाह—

स्याद् वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा । (मू० का० ६, पू०)

अत्र काव्ये, एषामर्थो वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्यास्त्रयः । अथैषां स्वरूपम्—

शक्तिमत्त्वं वाचकत्वं शक्तिः[illegible] पदे मता ।
ईश्वरेच्छाविशेषोऽथ पदार्थान्तरमेव सा ॥

यत्र यस्य शक्तिस्तत्र तस्य वाचकत्वम् । यद्यप्यर्थक्रियाकारितया व्यक्तावेव शक्तिर्युक्ता । अर्थः प्रयोजनं. क्रिया निर्वाहः. तथापि जातावेव शक्तिः. तत्तद्विशिष्टायां व्यक्तौ गौरवादानन्त्याद् व्यभिचाराच्च । यत्र त्वानन्त्य-व्यभिचारौ न स्तः तत्राकाशादिपदे व्यक्तावेव शक्तिः । जातिविशिष्टबोधस्तु जातिशक्तं पदं जातिविशिष्टं बोधयतीति कार्य-कारणभावकल्पनया लक्षणया वा आक्षेपेण व्यञ्जनया वेति ध्येयम् । ईश्वरेच्छाविशेष इति । अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इत्याकारिका ईश्वरेच्छा । ननु अस्य शक्तित्वे एतादृश्य लक्षणास्थलेऽपि सत्त्वात् [प० ५. १] लक्षणोच्छेदः स्यात् ? इति चेत्, न । गङ्गापदात् प्रवाह-रूपोऽर्थो बोद्धव्य इति विशेषरूपाया ईश्वरेच्छायाः शक्तित्वाभ्युपगमात्; तत्रैवानुशा-सनादिप्रमाणसत्त्वाच्च । मीमांसकमेतद्वाह(?)पदार्थान्तरमिति ।

लाक्षणिकं स्वरूपमाह—

[1]मुख्यार्थान्वयबाधे स्यात् अन्यार्थप्रतिपत्तिकृत् ।
लक्षणा शक्यसम्बन्धो रूढितोऽथ प्रयोजनात् ॥

अत्र तात्पर्यविषयान्वये मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण मुख्यार्थप्रतियोगिताविरह इति विव-क्षणीयम् । अन्यथा 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यता'मित्यजहत्स्वार्थायामव्याप्तिः; दध्युपघातकत्वेन तत्र काकस्याप्यन्वयात् । विवक्षिते तु काकत्वेन अन्वयबाधान्नाव्याप्तिः । विभजते—रूढि-रित्यादि । रूढितः प्रसिद्धेः प्रयोगप्रवाहादिति यावत् । अत्र 'कर्मणि कुशल' इत्यादौ दर्भग्रहणरूपमुख्यार्थबाधात् 'गङ्गायां घोष' इत्यादौ च घोषाद्यधिकरणताऽसंभवात् प्रसिद्धे[:] । द(त्र ?)क्षतट्यादिप्रतीतिस्तु शक्यसम्बन्धग्रहपूर्विकेति शक्यसम्बन्धो लक्षणेत्युच्यते । प्रयोजनवती विभजते—

यत् स्वार्थेन पराक्षेपः स्वार्थं हित्वाऽन्यकल्पनम् ।
'उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥' (मू० का० १०, उ०)

---

१ 'शक्तिलक्षणाव्यञ्जनात्मकवृत्तीनां त्रित्वाच्छब्दे त्रित्वमुपचर्यत इत्यर्थः । २ यत्र यस्य शक्तिः स तस्य वाचक इति निष्कर्षः । ३ आकाशादिपदेषु जात्यभावादेकव्यक्तिकेषु व्यक्तावेव शक्तिरिति निष्कर्षः । ४ जातावेव शक्तिर्व्यक्तावाक्षेप इति भाट्टाः । तद्धी नान्तरीयकतया व्यक्तेर्भानमिति प्राभाकराः । जात्या-कृतिव्यक्तिषु शक्तिरिति गौतम-वैशेषिकौ । जाति-व्यक्त्योः शक्तिरिति पाणिनीयाः ।' इति मूलादर्शे टिप्पण्यः । † मुद्रितपुस्तकेषु तु श्लोकोऽयं प्रायोऽन्यथारूपेण दरीदृश्यते । यथा—

"मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥" श्लोकाङ्क ९

एतावेवा(एते चेवा)ऽजहत्स्वार्थ-जहत्स्वार्थे प्रकीर्तिते ॥

तथा च 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यता'मित्यत्र 'गङ्गायां घोष' इत्यत्र च उभयरूपा चेयं शुद्धा, न गौणी । उपचारेणामिश्रितत्वात् । उपचारश्च सादृश्येन सम्बन्धेन प्रवृत्तिः (त्तिः ? तेः) भिन्नत्वेन प्रतीयमानयोरैक्यारोपणमिति वा । भेदान्तरमाह –

†'सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ अनु(न)पह्नुतभेदकौ ।'
स्यातां तुल्याधिकरणावारोप्यारोपगोचरौ ॥

पूर्वं शुद्धेत्युक्तम् । इह त्वन्याऽशुद्धा गौणीत्यर्थः । यत्र विषयी विषयश्च अनु(न)पह्नुत-वैधर्म्यौ सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते सा सारोपा । भेदान्तरमाह –

विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका ॥
(मू० का० ११, उ०)

विषयिणा आरोप्यमाणेन अन्यस्मिन् आरोपविषये अन्तःकृते विषयनिष्ठासाधारण[पृ० ५.२] धर्मग्रहं विना तादात्म्येन प्रत्यायिते सा लक्षणा साध्यवसानिका । यत्र विषयोऽसाधारण-धर्मेण नोच्यते । विषय्येवोच्यते । परस्परं च तादात्म्याध्यासः ।

भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा ।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ लक्षणा तेन षड्विधा ॥ (मू० का० १२)

गौर्वाहीको[1] गौरेवायम् । आयुर्घृतं[3] आयुरेवेदम् । सादृश्यं सजातीयगुणवत्त्वम्, स एव सम्बन्धः । तत्त्वं च ‡स्वसमवेतसमवायित्वम् । यथा गौर्वाहीकः गौरेवायमिति । अत्र गौणभेदयोस्ताद्रूप्यप्रतीतिः । सर्वथैवाभेदावगमश्च प्रयोजनम् । अत्र 'गोसादृश्यं लक्ष्यतावच्छेदकं तेनैव प्रकारेण गोशब्देन वाहीको बोध्यत' इति केचित् । अपरे तु 'गोत्वेनैव गोशब्देन वाहीको बोध्यते । यथा मुखं चन्द्र इत्यादावपि चन्द्रत्वादिनैव मुखप्रतीतिः' इत्याहुः । न चायोग्यताज्ञानात् कथं एतादृशी धीरिति वाच्यम् । 'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि' इति न्यायात् । आहार्यारोपाद् वा तत्संभवात् । सादृश्यासादृश्यादन्यत् कार्य-कारणभावादिसम्बन्धान्तरम् । यथा आयुर्घृतम्, आयुरेवेदम् । अत्रान्यवैलक्षण्येन चाव्यभिचारेण च तत्कार्यकारित्वं फलम् । एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम् । तया लक्षणया प्रवर्तत इति लाक्षणिकः शब्दः ।

अथ व्यञ्जको निरूप्यते – 'शब्दोऽत्र व्यञ्जक' इति । इदमनुपपन्नम् । व्यञ्जनायां प्रमाणाभावात् । तथा हि – यत्र लक्षणा मूलध्वनिरभ्युपगम्यते तत्र तात्पर्यानुपपत्त्या शैत्यपावनत्वादिवि-

---

† मुद्रितपुस्तकेषु तु पुनरेषः श्लोकार्द्धं ईदृक्पाठात्मको लभ्यते–

"सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा ।" श्लोकाङ्क १०

१ 'तत्र प्रयोजनवती षड्विधा । एका उपादानरूपा । अन्या लक्षणरूपा शुद्धा । एते अजहत्स्वार्था जहत्स्वार्था च । तथा सारोपा । साध्यवसाना शुद्धा गौणी च । २ गोसदृशो वाहीक इत्यर्थः । इयं सादृश्यसम्बन्धेन लक्षणा गौणी । ३ इयं अभेदेन लक्षणा मुख्या । ४ यत्र लक्ष्यार्थस्याभिव्यञ्जकत्वा सा लक्षणामूलध्वनिः ।' इति मूलादर्शे एताः टिप्पण्यः । ‡ आदर्शे 'स्वसमवेतसमवेतसमवायिसमवायित्वं' एतादृशी पंक्तिर्लभ्यते ।

शिप्रतीरे लक्षणया विशिष्टार्थप्रतीतिर्भविष्यति । तदर्थं किं व्यञ्जनाकल्पनेन ? । न च शक्यस्य विशिष्टेन सह एकसम्बन्धाभावात् कथं विशिष्टे लक्षणेति वाच्यम् । यत्किञ्चिदेकसम्बन्धस्य ज्ञानविषयत्वादेवैक्यं शक्यत्वात् । अस्मिन् पक्षे रूढिरिव प्रयोजनं विना लक्षणेत्यवधेयम् । अभिधामूलध्वनौ तु नाना[र्थ]स्थले –

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य ।
यस्या[पृ॰ ६.१]नुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥

यस्य करः शयः शुण्डा वा, सततं दानं वितरणं मदो वा, तस्याम्बुनः सेकेन सुन्दरोऽभूत् । कीदृशस्य भद्रः श्रेष्ठः आत्मा यस्य, भद्रजातीयस्येति वा ।

"भद्रो रुद्रे वृषे रामवरे मेरुकदम्बके ।
हस्तिजात्यन्तरे भद्रो वाच्यवच्छ्रेष्ठसाधुनः ॥" – इति विश्वः ।

दुरधिरोहतनोः दुर्लभदर्शनस्य दुरारोहस्य वा, विशाले वंशे अन्वाये पृष्ठोपरिभागे वा, उन्नतिर्यस्य स तस्य ।

"वंशो वेणौ कुले वर्गे पृष्ठस्यावयवेऽपि च ।" – इति विश्वः ।

तथा, कृतः शिलीमुखानां बाणानां भृङ्गाणां वा सङ्ग्रहो येन स तस्य ।

"शिलीमुखोऽलि-बाणयोः ।" – इति विश्वः ।

अनुपप्लुतगतेः निरुपद्रवचेष्टितस्य स्थिरगमनस्य वा ।

"उपप्लवः सैंहिकेये विप्लवोत्पातयोरपि ।" – इति विश्वः ।

परवारणस्य परेषां नियन्तुः, उत्कृष्टहस्तिनो वा इत्यक्षरार्थः । इत्यादौ स्थले राज-गजोभयार्थ एव फलबलात् तात्पर्यग्रहादुभयप्रतीतिर्भविष्यति किं व्यञ्जनया । नानार्थादन्यत्र तु मुख्यार्थबाधे तत्तदर्थेषु रसादिषु तात्पर्यानुपपत्त्या पूर्ववत् लक्षणैव । यत् तु तत्तद् वर्णानां तत्तद् रसव्यञ्जकतया व्यञ्जनाऽवश्यमाश्रयणीयेति तदतीवतुच्छम्, अनभ्युपगमपराहतत्वात् । वस्तुतस्तु नाट्यादिदर्शनजन्यसुखविशेषस्यैव रसत्वस्य वक्ष्यमाणत्वेन तस्य व्यञ्जकत्वाभावात्, अपि तु साक्षात्कारविषयत्वात् ।

अथ 'रुचिं कुरु'त्यादावसभ्यार्थोपस्थापकत्वेन व्यञ्जना स्वीकर्तव्या इति चेन्न । [१]अपभ्रंशान्तरवत् तत्रापि तदर्थोपस्थापकत्वात् । अथ

द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।

इत्यत्र पिनाक्यादिपदवैलक्षण्येन कपाल्यादिपदानां व्यञ्जनां विना शिवनिन्दाबोधकत्वाभावात् कथं काव्यानुगुणत्वम् ? इति चेत्, मैवम्; तत्र योगबलात् कपालिपदस्य कपालित्वरूपशिवप्रत्यायकत्वेन काव्यानुगुणत्वात् । वस्तुतस्तु अनुमानेन व्यञ्जनाऽन्यथासिद्धा । तथा हि –

१ यथा गगरीपदस्य घटे शक्तिर्नास्ति तथापि शक्तिभ्रमेण तत्पदात् तदुपस्थितिर्जायते । तथैवात्रापि शक्तिभ्रमात् तदुपस्थितिर्भविष्यतीत्याशयः ।

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुनओ अज्ज मारिओ देन।
गोदा[पृ० ६.२]णइकच्छकुडंगवासिणा दरिअसिंहेन॥

इत्यत्र गृहे भयहेतुश्वनिवृत्तिजन्यभ्रमणविधानेन गोदावरीतीरस्य सिंहवत्त्वेन भीरुभ्रमणायोग्यत्वं व्यङ्ग्यम्। तत् तु गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणायोग्यं सिंहवत्त्वात्। यन्नैवं तन्नैवम्, यथा गृहम्, इत्यनुमानेन सेत्स्यति, किं व्यञ्जनया। न च भीरुरपि गुरोः प्रभोः निर्देशेन प्रियानुरागेण वा भ्रमतीति व्यभिचार इति वाच्यम्। प्रभुनिर्देशाद्यनुपाधिकत्वेन भ्रमणस्य विशेषणीयत्वेन व्यभिचाराभावात्। न च प्रतारिकावाक्यत्वेन वाक्यात् सिंहवत्त्वं न निश्चितमिति वाच्यम्। प्रतारिकावाक्यादपि तत्त्वज्ञानदशायां तन्निश्चयोत्पत्तेः। अथ व्यज्यत इति प्रतीत्या व्यञ्जनासिद्धिः, इति चेत्, न; तस्याः प्रतीतेरनुमीयत इति प्रतीत्या सहैकार्थत्वात्।

अन्ये तु सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापार इति यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति न्यायाद् 'भम धम्मिअ' इत्यादौ भ्रमणायोग्यत्वं वाच्यमेव, न व्यङ्ग्यम्। न च यत्परः शब्द इत्यादेर्यदंशो विधेयः[4] तत्रैव तात्पर्यमित्यर्थः। यथा दध्ना जुहोतीत्यत्र हवनस्यान्यतः सिद्धेर्दध्यादेः करणत्वे, न तु शब्दश्रवणानन्तरं प्रतीयमान एव तात्पर्यमित्यर्थः। तथा सति पूर्वो धावतीत्यत्र अपराद्यर्थेऽपि शब्दस्य प्रामाण्यं स्यादिति वाच्यम्। एवं विवक्षितेऽपि विधेयतया भ्रमणायोग्यत्वेऽपि तात्पर्यस्य वक्तुं शक्यत्वात्। न चैवं लक्षणोच्छेद इति वाच्यम्; लक्ष्येऽर्थे परमतात्पर्याभावात्। अन्यत्रान्यशब्दप्रयोगस्तु तद्धर्मप्राप्त्यर्थ इति न्यायात् प्रतीयमाण(न) एव अर्थे परमतात्पर्यादित्याहुः।

यदपि च नयनभङ्ग्यादेर्व्यञ्जकतेति तदपि न। तत्र चेष्टाविशेषस्यैव अनुमानविधया तत्तदर्थप्रत्यायकत्वात्।

ननु न मया पदपदार्थभिन्ना व्यञ्जना नाम काचिद् वृत्तिरङ्गीक्रियते येन धर्म्यन्तरकल्पनागौरवं स्यात्। किन्तु येन सम्बन्धेन पावनत्वादिकं उपस्थाप्यते तस्य व्यञ्जनये(? ने)ति नामोच्यते बाधित[पृ० ७.१]बोधकत्वेन अभिधातस्तस्या वैलक्षण्यात्। न चाभिधादेरेव बाधितबोधकत्वमिति वाच्यम्; तस्याः काप्येवमकल्पनात्. तन्न; अभिधादेरेव बाधितबोधकत्वं कल्प्यम्। धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसीति न्यायात्। नामान्तरकरणस्य वस्त्वन्तरासाधकत्वात्।

ननु अनेनेदं नोक्तम्, किन्तु व्यञ्जितमिति प्रतीत्योर्वैलक्षण्यात्, अभिधातो व्यञ्जना पृथक्, यथा अनुमिनोमि न साक्षात् करोमि इत्यनुभवबलात् प्रत्यक्षादनुमानं पृथक्; इति चेन्न। तन्न

१ हेतुरेव निश्चितो नास्तीति कथमनुमानं करिष्यतीत्याशङ्कते। २ अनया सत्यमेवोच्यते इति ज्ञानदशायाम्। ३ यावानर्थो यस्माच्छब्दात् प्राप्यते तावानर्थस्तेन वाच्यः। ४ अनन्यलभ्यः। ५ प्रकरणादेः।

प्रतीतेरन्यथोपपादयितुमशक्यत्वात् । अत्र तु अनुमानेन लक्षणया वा उपपादयितुं शक्यत्वात् न व्यञ्जना पृथक् ।

ननु एवं अनुमानेन व्यञ्जनान्यथासिद्धौ शब्दप्रामाण्यमपि भज्येत । घटमानयेत्यत्र कर्मत्वं घटवत् । घटनिरूपिताकांक्षायोग्यतादिमत्पदस्मारितत्वात् । इत्यनुमानेन शाब्दबोध-समशीलज्ञानजननसंभवात्, इति चेत्, न । योग्यतायाः लिङ्गविशेषणत्वासंभवात्, तस्याः संशयसाधारणज्ञानस्य कारणत्वात्, हेतुनिश्चयकारणत्वस्य सर्वसम्मतत्वात्, शब्दस्थले व्याप्त्यादिप्रतिसन्धानं विनाऽपि अत्यन्तासत्यप्यर्थे बाधावतारेऽपि अन्वयबोधदर्शनात् । नानुमानेन शब्दप्रामाण्यस्यान्यथासिद्धिः ।

सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते । (मू० का० ७, पू०)

इति प्राचां मतानुसारेण वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्यानां व्यञ्जकतामाह । तत्र वाच्यस्य यथा—

माए घरोवअरणं अज्ज हु णत्थि त्ति साहिअं तुमए ।
ता भण किं करणिज्जं एमेअ ण वासरो ठाइ ॥

[मातर्गृहोपकरणं अद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया ।
तद् भण किं करणीयं एवमेव न वासर [:] स्थास्यति ॥]

मातरित्याज्ञाकरणोपयोगित्वम्, गृहोपकरणमित्यनेनावश्यकर्त्तव्यत्वम्, अद्येत्यादिना अति-प्रसङ्गनिवारणम्, त्वया कथितं न तु मयेत्यनेन अन्यथाशङ्कानिवृत्तिः, तत् शब्देन हेत्वर्थेन अवश्यवक्तव्यम् । एवमेव व्यासङ्गं विना, वासरो न तिष्ठति । अतीते [प० ७.२] वासरे तवाज्ञयाऽपि न किञ्चित् करिष्यामीति व्यज्यत इति व्यञ्जकता पदार्थानाम् ।

वाक्यार्थव्यञ्जकतामाह । अत्र वक्तृवैशिष्ट्यात् स्वैरविहारिणीति व्यज्यते ।

लक्ष्यस्य यथा—

साहेंती सहि सुहअं खणे खणे दूमिआसि मज्झ कए ।
सब्भावणेहकरणिज्जसरिसअं दाव विरइअं तुमए ॥

[साधयन्ती सखि ! सुभगं क्षणे क्षणे दूनासि मत्कृते ।
सद्भावस्नेहकरणीयसदृशं तावद् विरचितं त्वया ॥]

त्वयेति ज्ञातापकारिणीं प्रति एवंविधोक्तिरसम्भावितेति । बाधानन्तरं सद्भावेत्यादिना तदभावव्याप्यत्वेन विरोधी लक्ष्यते । तदाह—मत्प्रियं रमयन्त्या त्वया शत्रुत्वमाचरितमिति लक्ष्यम् । तेन कामुकविषयसापराधत्वप्रकाशनं व्यङ्ग्यम् । केचित् तु सद्भाव-स्नेहाभ्यां तद्-भावो लक्ष्यते । तेन च तदतिशयः शत्रुत्वं व्यज्यते । लक्ष्यमित्यस्य लक्षणामूलव्यङ्ग्यत्वमर्थः । पार्यन्तिकव्यङ्ग्यं तु कामुकविषयकसापराधत्वप्रकाशनमित्यर्थः । अत्र वाक्यार्थव्यञ्जक-त्वेऽपि लक्ष्यस्य व्यञ्जकत्वम् । भट्टमते तस्यापि लक्ष्यत्वात् । यद्वा अन्वयस्य व्यञ्जकत्वेऽपि अन्वयिनो व्यञ्जकत्वम् ।

व्यञ्जकस्य यथा —

उय णिच्चलणिप्पन्दा बिसिणीपत्तम्मि रेहई बलाआ ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ संखसुत्ति व्व ॥
[पश्य निश्चलनिष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका ।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव ॥]

निश्चलः पर्वतः तद्वद्निष्पन्देत्यर्थः । अथवा हे निश्चल ! निरुद्यम ! इति सम्बोधनम् । अत्र निष्पन्दत्वेनाश्वस्तत्वम् । तेन जनरहितत्वम् । अतः सङ्केतस्थानमेतदिति कयाचित् कश्चि(श्चि)द् प्रत्युच्यते । सम्भोगाद् विप्रलम्भस्याधिकमधुरत्वेन । पक्षान्तरमाह — अथवा मिथ्या वदसि, न त्वं तत्र गतो भूरिति व्यज्यते ।

॥ इति पादसाह-श्रीअकब्बरसूर्यसहस्रनामाध्यापक-श्रीशत्रुञ्जयतीर्थकरमोचनाद्यनेकसुकृतविधायक-महोपाध्याय-श्रीभानुचन्द्रगणिशिष्याष्टोत्तरशतावधानसाधनप्रमुदित[पा० ८.१]पादसाह-श्रीअकब्बरप्रदत्त-षु(खु)स्फहमापराभिधानमहोपाध्याय-श्रीसिद्धिचन्द्रगणिविरचिते काव्यप्रकाशख(ख)ण्डने द्वितीय उल्लासः ॥

ॐ

तृतीय उल्लासः ।

अथ — **अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ।** (मू० का० २०, उ०)

अर्थव्यञ्जनोपायमाह —

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाच्यवाक्यान्यसंनिधेः । (मू० का० २१, उ०)
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥ (मू० का० २२)

बोद्धव्यः प्रतिपाद्यः । काकुर्ध्वनेर्विकारविशेषः । वाक्यवाच्यसहितोऽन्यसंनिधिरित्यर्थः । अन्यो वक्तृबोद्धव्यभिन्नो जनः, प्रस्तावः प्रकरणम्, देशो विजनादिः, कालो वसन्तादिः, वैशिष्ट्यात् वैलक्षण्यात् । पञ्चम्या हेतुत्वमुक्तम् । तदभावे व्यञ्जनानुदयात् । प्रतिभा वासनाविशेषः । तेन श्रोत्रियादिषु न प्रसङ्गः । व्यक्तिरेव सा । एवकारेण व्यापारान्तर-प्रमाणान्तर-व्युदासः । सङ्केताद्यभावेन नाभिधादिः । आदिग्रहणात् चेष्टादेः परिग्रहः । अर्थस्य वाच्य-लक्ष्यव्यङ्ग्यात्मनः, एषां च सङ्करे यस्योद्भटता तन्मूलो व्यवहारः ।

अइपिहुलं जलकुंभं घेत्तूण समागदम्मि सहि तुरिअं ।
समसेअसलिलणीसासणीसहा वीसमामि खणं ॥
[अतिपृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागताऽस्मि सखि ! त्वरितम् ।
श्रमस्वेदसलि[ल] निःश्वासनिःसहा विश्रमामि क्षणम् ॥]

अकस्मादस्याः कुत एवं श्रमः इति तर्कयन्तीं सखीं प्रतीयमुक्तिः । अत्र पृथुलजल-कुम्भवहनपूर्वकत्वरितगमनजन्योऽयं श्रमः, नान्यथा शङ्किष्ठाः—इति रतगोपनं वक्त्र्याः, पुंश्चलीत्वं वैशिष्ट्यम् । कुलवधूक्तावेवमप्रतीतेः ।

बोद्धव्यवैशिष्ट्यात् यथा—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यतां सुजनता भवता प्रतिपादिता ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे! सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम् ॥

एतदपकारिणं प्रति विरोधलक्षणया कश्चन वक्ति । अत्रापकारातिशयो व्यङ्ग्यः ।

काकोर्यथा—

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां,
वने व्याधैः सार्द्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः ।
विराटस्यावासे स्थितम[प० ८,२]नुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खिन्ने खेदं मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥

कुपितस्य भीमस्योक्तिरियम् । दृष्ट्वेति प्रति कर्मणि सम्बध्यते । तथाभूतां स्त्रीधर्म्मिणीं दुःशासनाकृष्टकेशां च । वल्कलधैरित्यत्रास्माभिरिति विशेष्यपदं अध्याहार्य्यम् । आरम्भो वेषः कर्म वा । खिद्यतेऽनेनेति खेदो मात्सर्य्यम्, खिन्ने ग्लाने इत्थमित्यध्याहार्य्यम् । प्रकारान्तरेण खिन्ने खेदभजनौचित्यानुपपत्तेः खिन्ने खेदं भजतीत्यत्यन्तानौचित्यम् । तदाह मयि न योग्यः खेदः, कुरुषु योग्य इति काका प्रकाश्यते । नन्वेवं काकाक्षिप्तत्वेन गुणी-भूतव्यङ्ग्यमेतत् स्यात्, न तु प्रधानभूतध्वन्युदाहरणमिति वाच्यम् । सहदेव! त्वां पृच्छामि यदेवं गुरुः [खेदं] करोति तत् कथमित्येवंरूपेण प्रश्नमात्रेणैव काकोर्विश्रान्तेः । अन्यथा तादृशमर्थं विना खिन्ने खेदभजनस्य वाक्यार्थस्य अनुपपद्यमानस्य कुतो व्यञ्जकत्वमिति, मयि न योग्यः खेद इत्यंशे ध्वनित्वमेव ।

वाक्यसन्निधेर्यथा—

लावण्यं तदसौ कान्तिस्तद्रूपं स वचःक्रमः ।
तदा सुधास्पदमभूद् अधुना तु ज्वरो महान् ॥

अत्र तदेत्यधुनेति वाक्यविशेषवैशिष्ट्येन प्रमोदातिशय-वैराग्यातिशयौ व्यज्येते । वाच्यवैशिष्ट्यं तु 'अइपिहुले' त्यनेनोदाहृतम् ।

अन्यसंनिधिवैशिष्ट्यस्य यथा—

सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।
ईषन्नेत्रार्पिताऽऽकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥

चेष्टाविशेषस्यापीदमुदाहरणम् । अत्र जिज्ञासितः सङ्केतकालः कयाचित् निशासमय-शंसिना कमलनिमीलनेन प्रकाशितः प्रस्तावाद् । यथा—गतोऽस्तमर्क इत्यनेन तत्तत्प्रकरण-

वधात् सपत्नं प्रत्यवस्कन्दनावसरः इत्याद्यर्थाः प्रकाश्यन्ते । कालो वर्षादिः । देशो दूरादिः । यथा—

उपरि घनाघनपटली दूरे दयिता किमेतदापतितम् ।
हिमवति दिव्यौषधयः कोपाविष्टः फणी शिरसि ॥

अत्र काल-देशवैशिष्ट्येन अनर्थातिशयोऽभिव्यज्यते ।

॥ इति पातसाहश्रीअकब्बरजल्लालदीन[दीनं]सूर्यसहस्रनामाध्यापक-[प० ५.१]श्रीशत्रुञ्जयतीर्थकरमोचनाद्यनेकसुकृतविधापकमहोपाध्याय-श्रीभानुचन्द्रगणिशिष्याष्टोत्तरशतावधानसाधनप्रमुदितपादसाह-श्रीअकब्बरजल्लालदीनप्रदत्त-खुस्फहमापराभिधानमहोपाध्याय-श्रीसिद्धिचन्द्रगणिविरचिते काव्यप्रकाशखण्डने तृतीय उल्लासः ॥

चतुर्थ उल्लासः ।

अथ ध्वनिभेदानाह । तत्रादौ लक्षणामूलमाह—

अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ ।
अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥ (मू० का० २४)

लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये सति अविवक्षितं वाच्यं यत्र स ध्वनावित्यनुवादाद् ध्वनिरिति ज्ञेयः । अत्राविवक्षितं वाच्यतावच्छेदकप्रकारेणेति बोध्यम् । अन्यथा 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र वाच्यस्यापि विवक्षणात् तदसंग्रहः स्यात् । अर्थान्तर इति । स्वार्थमपरित्यज्य अर्थान्तरपरशब्दकमित्यर्थः । अत्यन्तमिति । शक्यस्य सर्वथानन्वयित्वात्, अन्वयाप्रतियोगित्वं तिरस्कार इति । तदत्र लक्षणामूले अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यौ द्वौ भेदौ ज्ञेयौ । तत्राद्यो यथा—

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।
आत्मीयां मतिमादाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥

अत्र वाच्यस्यानुपयुज्यमानत्वात् लक्षणैवाश्रयणीया । तथा हि—त्वां उपदेश्यम्, अहमुपदेष्टा, वच्मि उपदिशामीत्यर्था लाक्षणिकाः । तथा चावश्यवाच्यहिताहितत्वालङ्घनीयाज्ञत्वादरप्राप्तत्वानि व्यज्यन्ते । एवं विदुषां अनन्यसाधारणज्ञानवतां समवायः परस्परसापेक्षता आशुविपक्षदूषकत्वं सर्वप्राश्निकपक्षत्वं व्यङ्ग्यम् । आत्मीयां परामतार्याम्, अदुष्टपक्षोद्भावनं फलम्, स्थितिं सावधानाम्, विपक्षच्छिद्रप्रेक्षकत्वं फलमित्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वं स्वार्थं अपरित्यज्य परार्थावबोधकत्वं प्रथमो भेदः ।

द्वितीयो यथा—'उपकृतं बहु तत्रे'त्यादिना । एतदपकारिणं प्रति विपरीतलक्षणया कश्चन वक्ति । अत्र अपकारातिशयो व्यङ्ग्यः । अत्र वाच्यस्य सर्वथान्वये[प० ५.२]ऽप्रवेशादत्यन्ततिरस्कृतवाच्यता । अन्वयाप्रवेश एव तिरस्कारः ।

अभिधामूलमाह—

विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः । (मू० का० २५, पू०)

अन्यपरं व्यङ्ग्यनिष्ठम् । तदाक्षेपकत्वेन तत्र विश्रान्तमिति यावत् । एतस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य द्वौ भेदौ—एकोऽसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो द्वितीयः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः । अत्र संलक्ष्येति न खलु विभावानुभावसंचारिण एव रसः, अपि तु रसस्तैः प्रत्याय्यत इति विभावादेर्व्यञ्जकस्य रसस्य व्यङ्ग्यस्यास्ति पौर्वापर्यक्रमः स न लक्ष्यत इत्यर्थः । आस्वादेन झटिति चित्ताकर्षणात् कालसौक्ष्म्याच्च । तत्र च

रसभाव-तदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।
भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः ॥ (मू० का० २६)

अक्रमः असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः, आदिग्रहणाद् भावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानि गृह्यन्ते । गुणीभूतव्यङ्ग्येति व्याप्तिवारणाय भिन्नेति हेतुमाह—अलङ्कार्यतया स्थित इति प्रधानतया यत्र स्थितो रसादिस्तत्रालङ्कार्यः । अन्यत्र तु प्रधाने वाक्यार्थे यत्राङ्गभूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये रसवत् प्रेयऊर्जस्वित्समाहितादयोऽलङ्काराः । स्थितः स्थिरतामापन्नः तेन अङ्गतां बाध्यतां वा प्राप्ते रसादौ न तथात्वमिति । रसवदितीवार्थे वतिः । अङ्गभूतस्य रसस्य परिपुष्ट्यभावाद् रसतुल्यत्वात् । प्रेय इति भावस्याङ्गत्वे समाहितमिति मन्तव्यम् ।

तत्र रसस्वरूपमाह—

कारणान्यथ कार्याणि सहचारीणि यानि तु ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्य-काव्ययोः ॥ (मू० का० २७)
विभावानुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥ (मू० का० २८)

'कारणानि' राम-सीतादीनि, परस्परानुरागे परस्परकारणानि, तस्योद्दीपनकारणानि उद्यानादीनि. अथश्चार्थे. कटाक्षादीनि कार्याणि, लज्जा-हासादीनि सहचारीणि रत्यादेरुपचायकानि. सामग्रीसंपातेन रत्यादिभिः सहचरणात् । 'सहकारीणी'ति तु [पृ० १०.१] पाठे रत्यादेरेकरूपस्य तत्तद्विचित्रस्मितरुदितादिकार्यजननयोगे सामग्रीवैचित्र्यापादकानि ।

'विभावा' इति । ते तु द्विधा—आलम्बनविभावा नायिकादयः, उद्दीपनविभावा उद्यानादयः इति । ननु कारणादिशब्दसत्त्वे कथं विभावादिसंज्ञेति चेत्, उच्यते—सामाजिकनिष्ठरत्यादीनां आराध्यत्वेन ज्ञाता[ः] सीतादयो, न ते कारणादयो येन तथा स्युः । तेषां च विभावानुभावसञ्चाराणां त्रयव्यापारवत्त्वाच्च, तथाविधसंज्ञाः, तेषां च व्यापाराणां रत्यादेरीषत्प्रकाशः स्फुटतरप्रकाशः स्फुटतमप्रकाशः फलम् । विगलितवेद्यान्तरत्वेन स्थितिः, पुरस्फुर-

णादिचमत्कारित्वं च । भाव इति भावयति वासयतीति भावो वासना तेन निर्वासनेषु श्रोत्रियादिषु न प्रसङ्गः ।

ननु कथं रत्यादेः अनुरागादिरूपस्य अन्तःकरणवृत्तिविशेषस्य अभिव्यक्तावेव परमानन्दरूपरसोद्बोध इति चेत्, उच्यते । अत्राभिनवाः — वेदान्तिमते सर्वस्मिन् ज्ञाने आत्मभाननैयत्यात् काव्यदर्शनश्रवणमहिम्ना उक्तया अभिव्यक्त्या चिदात्मनः अज्ञानांशे आवरणभङ्गः क्रियते । आवरणं स्वज्ञानमेव । तथा च न रत्याद्यवच्छिन्नं चैतन्यं आनन्दांशे भग्नावरणम् । आनन्दरूपतया प्रकाशमानं रस इति निर्गलितार्थः । ज्ञानान्तरे स्वज्ञानभङ्गाभावाच्च रसोद्बोधः । तस्यां चाभिव्यक्तौ लिङ्गोपहितलैङ्गिकमानवद् विभावादिसंभेदोऽप्यावश्यकः । अत एवोक्तम् — पानकरसन्यायेनेति । ननु रसस्तावत् सामाजिकनिष्ठरत्युद्बोधः । स कथं रामादिसम्बन्धित्वेन अवगतेभ्यः सीतादिभ्यो भवति ? असंभवाद् इति चेत्, न । विभावादीनां साधारण्यमात्रेण ज्ञानमपेक्षितम्, साधारण्यं च यत्किञ्चित् सम्बन्धिविशेषसम्बन्धित्वेन अज्ञायमानत्वे सति ज्ञायमानत्वम् । न च सीतात्वादिज्ञाने कथमेतादृशं साधारण्यम्, तथा विभावादिव्यापारमहिम्ना सीतात्वादि[पृ० १०.२]परिहारेण स्त्रीत्वादिनैव ज्ञानात् । अत एवोक्तम् — त एवापहृतविशेषा रसहेतव इति । एवं रत्यादेः साधारण्यमपि रसोद्बोधे हेतुः । अन्यथा सीताद्यालम्बनकरत्यादेः स्वनिष्ठत्वज्ञाने व्रीडातङ्कादिः स्यात् । परनिष्ठत्वज्ञाने सभ्यानां रससाक्षात्कारो न स्यात् । वस्तुतः सर्वस्मिन् ज्ञाने आत्मभाननैयत्यम् । काव्यश्रवणानन्तरं विभावादिभिः तस्य आनन्दांशे आवरणभङ्गः । तथा सीतात्वादि(दी ?)नां सीतात्वादिपरिहारेण साधारण्यम्, रत्यादिभावस्य च साधारण्यम् — इत्यादि स्वीकर्तव्यम् । इति प्राचां निष्कर्षः । तदपेक्षया कामिनीकुचकलशस्पर्शचन्दनानुलेपनादिनेव नाट्यदर्शनकाव्यश्रवणाभ्यां सुखविशेषो जायते । स एव तु रस इति नवीनाः ।

अथ प्राचां रसविशेषानाह —

शृङ्गार-हास्य-करुणा रौद्र-वीर-भयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥ (मू० का० २९)

श्रव्यकाव्ये शान्तोऽपि रसः । अथैषां स्थायिभावाः —

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः ॥ (मू० का० ३०)

शान्तस्य तु निर्वेदः स्थायी ।

नवीनास्तु शृङ्गार-वीर-हास्याद्भुतसंज्ञाश्चत्वार एव रसाः । करुणादीनां यथा न रसत्वं तथा वक्ष्यते ।

तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ — संभोगो विप्रलम्भश्च । उभयस्यैव रतिप्रकृतिकत्वात् । तत्राद्यः परस्परालोकनालिङ्गन-चुम्बनाद्यनन्तभेदादपरिच्छेद्य इति संभोगत्वमुपाधिमाद्यायैक्यम् । उदा०

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
निंद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

शून्यमित्यादिना उद्दीपनातिशयः, चुम्बनप्रवृत्तियोग्यता च ध्वन्यते । एवं वासगृहमित्युपकरणसंपत्तिः । विलोक्य निपुणं निभाल्य, सहचरनिभृतत्वशङ्कया, किञ्चित् न तु सर्वतः, निद्राभङ्गभिया, [पृ० ११.१] शयनादुत्थायेत्युत्कण्ठातिशयो ध्वन्यते । शनैर्वलयादिक्वाणो यथा न स्यात् । निद्राव्याजमुपागतस्येत्यनेन तदीयधार्ष्ट्याभिधानम्, पत्युर्मुखमित्यनेन शुक्लानुरागित्वम्, विश्रब्धमित्यनेन अनुरागातिशयादविमृश्यकारित्वम् । नम्रमुखी न तु नामितमुखी, लज्जातिशयात् तथा व्याकुलाऽभूत् येन मुखावनामनेऽपि न स्वातन्त्र्यम् । चिरमित्यनेन लज्जापगमः संभोगस्वीकारश्च व्यज्यते । हसता तव निखिलमेव रहस्यमवगतमिति हासः । लज्जत इति लज्जा पृथक् पदम्, ततो मुखनमनलज्जनक्रियापेक्षया समानकर्तृकत्वेन, आलोक्येत्यत्र क्त्वोत्पत्तिः ।

अपरस्त्वभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुकः पञ्चविधः । स च सङ्गमप्रत्याशाकालीनस्तदनुत्पादः । अभिलाषः इच्छा, देशैक्येऽपि गुर्वादिपारतन्त्र्यं विरहः । देशैक्येति विशेषणादस्य प्रवासतो भेदः । अन्यसङ्गिनि प्रिये कोपः ईर्ष्या, प्रवासो वैदेश्यम्, मुन्यादिनियन्त्रणं शापः । अत्र हेतुः पूर्ववर्ती, अभिलाषस्यानुत्पादकत्वेऽपि पूर्ववर्तित्वं नियतमेव सिद्धम्, इच्छाविरहात् ।

क्रमेण उदाहरणानि —

प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदयाः
तास्ता मुग्धदृशो निसर्गचतुरा चेष्टा भवेयुर्मयि ।
यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा-
दाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः ॥

प्रणयः प्रेमैव कष्टापन्नम् । परिचयोऽत्यन्तसंपर्कः । केचित् तु प्रेम स्नेहः स एव प्रकृष्टः सन् प्रणयः उच्यते । स एव परिचयातिशयेन रञ्जनसमो राग इत्याहुः । भवेयुरिति प्रार्थनायां लिङ् । यास्वाशंसापरिकल्पितास्वपि अन्तःकरणस्य आनन्दसान्द्रो लयो भवतीत्यन्वयः । रोधीत्यत्रावश्यके णिनिः । निसर्गः स्वभावः, आशंसा इच्छा, लयस्तन्मयत्वम्, व्यापारः पटुत्वेन स्वस्वविषयग्राहित्वम् ।

विरहहेतुकमुदाहरति —

अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक् सुहृद्
यो मां [पृ० ११.२] नेच्छति नागतश्च सहसा कोऽयं विधेः प्रक्रमः ।

इत्यल्पेतरकल्पनाकवलितस्वान्ता निशान्तान्तरे
बाला वृत्तविवर्त्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रां निशि ॥

एषा विरहोत्कण्ठिता । अन्यत्र प्रवासे नायिकान्तरगृहे वा तत् तावदलीकमेव तत्कथाऽपि नास्ति । नापि कश्चिदीदृग् एतस्य सुहृन्मित्रं यो मां नेच्छति न सहते यन्निषिद्धो नागच्छेदिति भावः । शीघ्रं च नागतः कोऽयं विधेः प्रक्रमः ? विधेर्दैवस्य प्रक्रम आरम्भः । कोऽयमित्यननुभूतपूर्वः । इत्थं बहुवितर्कैर्ग्रस्तं मनो यस्याः, वृत्तविवर्त्तनं उद्वृत्तपरिवर्त्तनं शय्यायां परिवृत्तिः, तस्य व्यतिकरः सम्बन्धो यस्याः सा । निशान्तान्तरे गृहाभ्यन्तरे बाला तन्वी निद्रां सुप्तिं निशि रात्रौ नाप्नोति नाधिगच्छतीत्यन्वयः ।

ईर्ष्याहेतुकमुदाहरति –

सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम् ।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलोदकैरश्रुभिः ॥

लुठन्तो लोला अलका येषु तैः अश्रुभिः, पर्यस्ते व्याकुलीकृते नेत्रोत्पले यस्याः सा बाला केवलमेव रोदितीत्यन्वयः । सख्या भावः सख्यं तेनोपदेशः । नारायणभट्टास्तु 'सख्या इति षष्ठी एकादेशः प्रामादिकः' इति पेठुस्तच्चिन्त्यम् । अत्र पत्युरन्यासङ्गाद् बालाया ईर्ष्या ।

प्रवासहेतुकमुदाहरति –

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः ।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्व्वे समं प्रस्थिताः
गन्तव्ये सति जीवित ! प्रिय ! सुहृत्सार्थः किमुत्सृज्यते ? ॥

वलयैरिति तेन कार्श्यम् । अस्राणामपि हृदयस्थितत्वेन प्रियसखत्वम् । निश्चितचेतसि नो गन्तुमुद्यते । जीवितेति प्रियेति सम्बुद्धिः, [प. १२.१] कान्तस्येव तव त्यक्तुमुचितत्वात् ।

शापहेतुकमुदाहरति –

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥

कुपितायाः लौहित्यौचित्यात् धातुरागैरित्युक्तम् । अत्रेच्छासमयस्मरणोद्रिक्तविरहजनिताश्रुभिर्दृष्टिलोपस्तेन लिखन-पादपतनयोरप्यनिर्वाहः । अर्थान्तरं न्यस्यति – क्रूर इति कृतान्तो दैवं तदेव कृतान्तो यमः । 'कृतान्तो यमसिद्धान्तदैवाकुशलकर्मसु' इत्यनुशासनात् । अत्र

आद्यपादत्रयमेव विप्रलम्भोदाहरणम्। क्रूरेत्यादि वाक्यान्तरं भावाभिव्यञ्जकम्। अतः शठेन, विधिनेत्यस्य नानेन तुल्यता, तत्र समाप्तिपर्यन्तं यावत्-तावत्पदाभ्यामेकवाक्यत्वेनैवान्वयात्।

यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुण-विप्रलम्भः॥ इति।

मूर्च्छितनायकादिविषयः करुण-विप्रलम्भोऽन्योऽप्यस्तीति भावः।

अथ हास्यादीनां उदाहरणम्—

आकुञ्च्य पाणिमशुचिं मम मूर्ध्नि वेश्या मन्त्राम्भसां प्रतिपदं पृषतैः पवित्रे।
तारस्वरं प्रहितथूत्कमदात् प्रहारं हाहा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा॥

हाहा हतोऽहमित्यन्तेन तादृशमुच्चार्येत्यर्थः। शर्मान्तनामश्रवणे हि हसितं स्यात्। अत्र विष्णुशर्मा आलम्बनम्, तस्य रोदनमुद्दीपनम्, द्रष्टुरुद्वेगग्लान्यादयो व्यभिचारिणः, स्मितहसितातिहसितानि उत्तम-मध्यमेष्वनुभावाः। यस्य हासस्तदनिबन्धेऽपि सामर्थ्यात् तदवसायः। तदुक्तम्—

यस्य हासः स चेत् क्वापि साक्षान्नैव निबध्यते।
तथाऽप्येष विभावादिसामर्थ्यादवसीयते॥

विकृतवाग्वेषादिदर्शनेनाश्चर्यं हास्योदयाद् अत्र हासो रसः।

करुणमाह—

हा मातस्त्वरिताऽसि कुत्र [१.१२.२] **किमिदं हा देवताः क्वाशिषो**
धिक् प्राणान् पतितोऽशनिर्हुतवहस्तेऽङ्गेषु दग्धे दृशौ।
इत्थं घर्घरमध्यरुद्धकरुणाः पौराङ्गनानां गिर-
श्चित्रस्थानपि रोदयन्ति शतधा कुर्वन्ति भित्तीरपि॥

तादृक्पूजादिभिरप्यरक्षणात् देवताक्षेपः। विविधदानादितर्पितानां द्विजानामाशीर्भिरपि न किञ्चित् कृतमित्याह—क्वेति। मध्यरुद्ध इति बाष्पबाहुल्येनान्तरावस्थानम्। इत्थमिति गिर इत्यनेनान्वितम्। अत्र नृपयोषिदालम्बनम्, तत्शरीरवह्निसंयोगादि उद्दीपनम्, रोदनमनुभावः, दैन्यग्लानिमूर्च्छादयः सञ्चारिणः।

रौद्रमाह—

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः।
नरकरिपुणा सार्द्धं तेषां सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृग्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम्॥

---

१ 'काव्यस्य इति टिप्पणी'।

द्रोणे हतेऽश्वत्थाम्नो वचनं वेणीसंहारेऽर्जुनं प्रति—गुरोः पातकमेव गुरुपातकं तस्य कर्तर्यनुमन्तरि अनिराकर्तरि दण्डः समुचित इति क्रमेणाऽऽह—कृतमित्यादि। अयमहमनन्यसहायः, नरकरिपुणा कृष्णेन, क्रोधात् कर्म विस्मृत्य प्रागनुमन्तुरुपादानम्। अत्रापकारिणोऽर्जुनादय आलम्बनम्, अक्रोधमनमुद्दीपनम्, रोदनमनुभावः, अन्यनैरपेक्ष्यगम्यगर्वः सञ्चारी।

वीरमाह—

क्षुद्राः सन्त्रासमेते विजहत हरयो क्षुण्णशक्रेभकुम्भा
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः।
सौमित्रे! तिष्ठ पात्रं त्वमसि नहि रुषां नन्वहं मेघनादः
किञ्चिद्भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि॥

दूताङ्गदे पद्यम्। एत इत्येवं सम्बोधनासंभवात्, एते यूयं विजहतेत्यन्वयः। विजहितेत्यत्रेहल्यघोरितीत्वापवादो जहातेश्चेति पक्षे इकारः। युष्मद्देहेषु पतन्तः सायका लज्जां दधतीति न तत्र पतिष्यन्तीति भावः। सौमित्रेति मातृसम्बन्धोल्लेखेन निर्वीर्यत्वं व्यज्यते। अत्र राम आलम्बनम्, जलनिधिनियमनमुद्दीपनम्, नीचेषु-[प. १३.१]पेक्षणं रामं प्रति स्पर्द्धा चानुभावौ, ऐरावतकुम्भसंचूर्णनस्मृतिः, लज्जां दधतीति गम्यो गर्वश्च सञ्चारिणौ।

भयानकमाह—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्द्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतित्वाद् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥

अभिज्ञानशाकुन्तले प्रथमाङ्के पद्यम्। गम्यदेशवैषम्यावैषम्यनिरूपणाय कादाचित्कविवर्त्तनेन रथदर्शनविच्छेदादाह—मुहुरिति। भूयसेति भूयसो लघुनिगोपनं न संभवतीत्यपि न गणयतीत्यर्थः। ततो भयपोषणं स्यन्दनात् भयमेव रसप्रकृतिः, तेन शरपतनादिति तद्भयस्य शब्दोपादानेऽपि न दोषः। श्रमविवृतेति दैवाद् भ्रश्यति, नादानं न वा विसर्गः। अत्र स्यन्दनमालम्बनम्, अनुसरणमुद्दीपनम्, पलायनमनुभावः, श्रमः सञ्चारी।

बीभत्समाह—

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा।
आर्त्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति॥

वीप्सायां यावत्संभवस्तावद् विधिः । प्रथमं कृत्तिं उत्कृत्योत्कृत्य अथ मांसानि जग्ध्वा क्रव्यमत्तीत्यन्वयः । उत्सेध उच्छूनता, उद्बोध इत्यपि पाठान्तरम्, अर्थस्तु स एव । स्फिक् ऊरूमूलकटिसन्धिभागः, पिण्डी जङ्घोर्ध्वभागः, 'पिण्ड' इति पाठे तदाकारकत्वात् । तथा स्पुटं विषमगभीरभागः । करङ्कस्याङ्कसंस्थत्वं बलवत्पिशाचाशङ्कयैव, अत एव दकूपेरणं दशनप्रकटनं च । अत्र शव आलम्बनम्, उत्कर्तनाद्युद्दीपनम्, नासाकुञ्चनादयोऽनुभावाः, उद्वेगादयः सञ्चारिणः ।

अद्भुतमाह—

चित्रं महानेष नवाऽवतारः क कान्तिरेषाऽभिनवैव भङ्गिः ।
लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः काप्याकृतिर्नूतन एव सर्गः ॥ [१. १३.२]

अत्र 'चित्रं महान् बत लोकोत्तरम् अहो कापि नूतन' इति शब्दाः स्वसमभिव्याहृतशब्दार्थस्यालौकिकत्वप्रकाशकाः । अवतार इति सदाचारादिप्रवर्तकत्वात् । अविकार इति पाठे विकाराभाव इत्यर्थः । अत्र मा(म)हापुरुष आलम्बनम्, तद्गुणातिशय उद्दीपनम्, स्तवादयोऽनुभावाः, मति-धृति-हर्षादयः सञ्चारिणः । एवं विभावादयो भावेष्वपि भाव्याः ।

अथ करुणादीनां कथं न रसत्वमिति चेत्, उच्यते—

इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोक उच्यते ।

तथा—

रौद्रशक्त्या तु जनितं वैक्लव्यं मनसो भयम् ।
दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सेति निगद्यते ॥

तथा—

तत्त्वज्ञानाद् यदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम् ॥

इत्यादिनियुक्तशोकादिप्रवृत्तिकानां करुणादीनां रसत्वनिषेधात् । न च तेषां तथाभूतत्वेऽपि अभिव्यक्तानन्दचिदात्मना सहाभिव्यक्तानां रसत्वमिति वाच्यम् । एवमपि स्थाय्यंशे रसत्वविरोधात् । अथालौकिकविभावाद्यभिव्यक्तानां तेषां रसत्वमुचितम्, सुरते दन्ताद्याघातस्यास्वाद्यवदिति चेत्, न । एवं क्षुधापिपासादिनानाविधदुःखहेतुजनितचेतोवैक्लव्यस्यापि रसान्तरत्वापत्तेः । सुरते दन्ताघातस्य बलवत्कामसंभवदुःखनाशकत्वेन भारापगमानन्तरं सुखिनः संवृत्ता स इतिवदुपादेयत्वम् । यत् तु शोकादयोऽपि रत्यादिवत् स्वप्रकाशज्ञानसुखात्मका इति तदुन्मत्तप्रलपितम् । किञ्च सामाजिकेषु मृतकलत्रपुत्रादीनां विभावादीनां शोकादिस्थायिभावस्य चर्वणीयेन अज-महीपालादिना सह साधारण्यम्, अश्रुपातादिदर्शनात् । वर्णनीयतन्मयीभवनं चापेक्षितमिति चेत्, कथं ब्रह्मानन्दसहोदररसोद्बोधः? कथं वा नाम(मा)ङ्गल्यम्? अत एव केचिदजविलापादिकं न पठन्ति । बीभत्से तु मांसपूयाद्युपस्थित्या वान्तनिष्ठीवनादिकं यत्र भवेत् तदेवाश्चर्यम्, कुतस्तादृशपरमानन्दरूपरसोद्बोध इति । एवं भयेऽपि । तथा शान्तस्य त्यक्त-[१. १४.१] सर्ववासनेषु भवतु नाम कथञ्चिद् रसत्वम्, विषयिषु पुनः सर्वविषयोपरमोपस्थित्या कथं रसत्वम्? । तदुक्तम्—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा ।
रसः प्रशान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ॥

एवं वीर-रौद्रयोर्न भेदः, विभावादिसाम्यात् । न च स्थायिभेद एव भेदकः, तस्यापि नियामकमुखप्रेक्षितत्वात् । यत् तु —

'रक्तास्यनेत्रता रौद्रे युद्धवीरात् तु भेदिनी ।'

इत्याहुः, तन्न । क्रोधसञ्चारिणि वीरे तस्याः सुलभत्वेन भेदकत्वानुपपत्तेः । न च रौद्रे अविवेकत्वस्य वीराद् भेदकस्य संभवाद् भेद इति वाच्यम् । क्रोधसञ्चारिणि वीरेऽप्यविवेकत्वस्य संभवात् । दानवीरादीनां प्रभावातिशयवर्णन एव कवीनां तात्पर्यमिति न तेषां रसत्वम् । एवं वात्सल्यनामाऽपि न रसः । भावेनैव गतार्थत्वात् ।

ननु कथं अजविलापादिकं कविभिर्वर्ण्यत इति चेत्, उच्यते — तेषां अज-महीपति-प्रभृतीनां स्वस्वप्रियानुरागप्रकर्षप्रतिपत्त्यर्थम् । अत एव च अजमहीपतेः स्वभार्यां इन्दुमतीं प्रति देहत्यागः कालिदासेन वर्णितः । एवं शान्तस्यापि वर्णनं मुमुक्षूणां वैराग्यातिशय-प्रतिपत्तये । एवं भयातिशयवर्णनं तत्तद्व्यक्तीनां मार्दवप्रतिपादनाय । वस्तुतस्तु कविभिः स्वशक्तिप्रदर्शनार्थमेव पद्मबन्धाबन्धादिनिर्माणवत् तत्र तत्र प्रवर्त्यत इति ।

अथ भावस्वरूपम् —

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः । (मू० का० ३५, ३०)
भावः प्रोक्तः ।

आदिग्रहणात् मुनि-नृप-पुत्रादिविषया । अञ्जितो व्यञ्जित इत्यर्थः । व्यभिचारिणो ब्रूते —

निर्वेद-ग्लानि-शङ्काऽऽख्यास्तथाऽसूया-मद-श्रमाः ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहो मदस्मृतिः ॥ (मू० का० ३१)
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥ (मू० का० ३२)
सुप्तं विबोधोऽमर्षश्च अवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥ (मू० का० ३३)
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्या[पृ. १४.२]तास्तु नामतः ॥
(मू० का० ३४)

बलस्यापचयो ग्लानिः । शङ्काऽनिष्टसमन्वयः, अनिष्टसंभावनम् । परोत्कर्षाक्षमाऽसूया । अनर्थातिशयाच्चेतसाऽऽवेगः संभ्रमो मतः । कोप एव स्थिरतरोऽमर्ष इति कथ्यते । अव-हित्थमाकारगोपनम् । अर्थनिर्द्धारणं मतिः ।

औत्पातिकैर्मनःक्षेपः त्रासः कम्पादिकारकः ।
पूर्वापरविचारोत्थं भयं त्रासात् पृथग् भवेत् ॥

१ 'स्मृतिर्धृतिः' इति मुद्रितपाठः ।

इति दिशा त्रासस्य व्यभिचारित्वम्। भयस्य स्थायित्वमिति बोध्यम्।

तत्राऽऽदौ भावोदाहरणम्—

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ! ते कालकूटमपि मे महामृतम्।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते ॥

ननु कथमस्य न रसत्वम्? 'नवरसा अन्ये भावा' इति सत्रिपठेन मुनिना विभागकरणात्। अङ्कुरादौ कवेः रसाभावेऽपि तत्प्रतापादिवर्णनं तज्जेतुरुत्कर्षप्रतिपादनाय।

व्यभिचारी यथा—

जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया
मा मा संस्पृश पाणिनेति रुदती गन्तुं प्रवृत्ता ततः।
नो यावत्परिचुम्ब्य चाटुकशतैराश्वासयामि प्रियां
भ्रातस्तावदहं शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृतः ॥

अत्र रसेऽनुभूयमानेऽपि विधिं प्रत्यसूयैव काव्यसर्वस्वत्वेन अनुभूयत इत्यसौ भावध्वनिरिति व्यवह्रियते। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति' न्यायात्। इयं भावस्थितिरुक्ता।

तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः। (मू० का० २६, पू०)

तदाभासा रसाभासा भावाभासाश्च। यथा—

स्तुमः कं वामाक्षि ! क्षणमपि विना यं न रमसे,
विलेभे कः प्राणान् सलु रणमुखे यं मृगयसे।
सुलग्ने को जातः शशिमुखि ! यमालिङ्गसि बलात्
तपःश्रीः कस्यैषा मदननगरि ध्यायसि तु यम् ॥

अत्र यं यमित्यसकृत्कर्मोपादानं अनेककामुकविषयमभिलाषं तस्याः व्यनक्ति। यद्येकविषयत्वमभिप्रेतं स्यात् तदासकृदेव कर्मोपादानं कुर्यात्। यद्वा रमणान्वेषणादिव्यापारा बहवस्ते च सर्वे एव वर्तमानकालीना नैकविषयत्वे संभवन्तीत्यनेककामुकविषयाभिलाषप्रत्ययाद् रतेराभासत्वम्। [पृ. १५.१] वस्तुतस्तु परस्परजीवितसर्वस्वयोरनुरागस्यैव रसत्वात् शास्त्रातिक्रमाद्यनौचित्यं रसत्वविरोधीति ध्येयम्।

भावाभासो यथा—

राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी सस्मेरयौवनतरङ्गितविभ्रमाङ्गी।
तत् किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः ॥

अत्र चिन्ता अनौचित्यप्रवर्तिता। एवमन्येऽप्युदाहार्याः।

भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता तथा॥ (मू० का० २६, उ०)

क्रमेणोदाहरणानि —

तस्यां रघोः सूनुरुपस्थितायां वृणीत मां नेति समाकुलोऽभूत् ।
आस्वा(श्वा)सितस्तत्क्षणमंसकूटे वामेतरेण स्फुरता भुजेन ॥

अत्राऽऽवेगस्य ।

विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा ।
तथैव वातायनसंनिकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती ॥

अत्रौत्सुक्यस्य भावस्योदयः ।

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिर्निक्षेप एव पदमुद्धृतमर्पयन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥

अत्राऽऽवेग-हर्षयोः सन्धिः ।

क्काकार्यं शशलक्ष्मणः क्क च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ॥

विक्रमोर्वशीनाटके पुरूरवसो वाक्यमिदम् । अत्र वितर्क-औत्सुक्य-मति-स्मरण-शङ्का-दैन्य-धृति-चिन्तानां तिलतण्डुलवच्चर्वमाणता । अत्र क्काकार्यमित्यादौ वितर्कः, भूयोऽपीत्यौत्सुक्यम्, दोषाणामिति मतिः, कोपेऽपीति स्मृतिः, किं वक्ष्यन्तीति शङ्का, स्वप्नेऽपीति दैन्यम्, चेत इति धृतिः, कः खल्विति चिन्ता, — इति स्वयं बोध्यम् । वस्तुतस्तु एतेषां पूर्वपूर्वोपमर्देन परपरोदयः शबलता ।

मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन । (मू० का० ३७, पू०)

राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत् । इदमयुक्तम् । तथा हि — रत्यादिसहचरणाद् व्यभिचारिणां भवतु कथञ्चन मुख्यत्वम्, सर्वथा उदासीनानां भाव-प्रशमादीनां [प. १५.२] मुख्यत्वं न संभवति, मानाभावात् ।

अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिः परः ॥ (मू० का० ३७, उ०)

शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः । (मू० का० ३८, पू०)

अनुस्वानः अनुरणनं तदाभस्तत्सदृशः संलक्ष्यः क्रमः पौर्वापर्यम्, अर्थाद् व्यञ्जकेन सह, यस्य एवंविधस्य व्यङ्ग्यस्य स्थितिर्यस्य स इत्यन्वयः । यथा ध्वनि-प्रतिध्वन्योः क्रमो लक्ष्यते तद्वद् वस्त्वलङ्कृति-तद्व्यञ्जकयोरित्यर्थः । स च शब्दशक्त्युद्भवः, अर्थशक्त्युद्भवः, उभयशक्त्युद्भवश्चेति त्रिविधः । तत्र शब्दा यत्र परिवृत्तिं न सहन्ते स शब्दशक्त्युद्भवः । तदन्योऽर्थशक्त्युद्भवः । यत्र केचन शब्दाः परिवृत्तिसहिष्णवः केचिदन्यथा, उभयोरपि

1 '°स्थितिस्तु यः ।' मुद्रितपाठः ।

काव्यसर्वस्वत्वं च तत्र उभयशक्तिमूलः । अत्रेदमवधातव्यम्—वस्त्वलङ्कृति-ध्वन्योः क्रमः संलक्ष्यते, रसभावादिषु क्रमो न लक्ष्यते इत्यलङ्कारशास्त्रयोगिन एव प्रष्टव्या इति । तत्र—

अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद् यत्रावभासते ॥ (मू० का० ३८, उ०)

प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा । (मू० का० ३९, पू०)

वस्त्वेवेत्यनलङ्कारं वस्तुमात्रम् । तत्राद्यो यथा—भद्रात्मन इत्यादि । अत्र मिथोऽसम्बन्धार्थद्वयबोधकत्वेन [illegible] अलङ्कारः कल्पनीय इति उपमाऽलङ्कारो व्यङ्ग्य इति व्यवहर्तव्यम् । वस्तुमात्रं यथा—

शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र ! यस्मै त्वम् ।

यत्र प्रसीदसि पुनः स भात्युदारोऽनुदारश्च ॥

अत्र विरुद्धावपि त्वदनुवर्तनार्थमेकं कार्यं कुरुत इति वस्तु ध्वन्यते ।

अर्थशक्त्युद्भवेऽप्यर्थो व्यञ्जकः सम्भवी स्वतः ॥ (मू० का० ३९, उ०)

प्रौढोक्तिमात्र(त्रात्?)सिद्धो वा कवेस्तद्गुम्फितस्य च ।

वस्तु वाऽलङ्कृतिर्वेति षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ॥ (मू० का० ४०)

वस्त्वलङ्कारमथवा तेनासौ द्वादशात्मकः । (मू० का० ४१, पू०)

इति । तत्र स्वतः संभवी न केवलं भणितिमात्रनिष्पन्नो बहिरौचित्येनापि संभाव्यमानः, प्रौढोक्तिमात्राद् बहिरसन्नपि निर्मितः कविना कविनि[ब]द्धवक्त्रेत्यन्यत् । अत्र अर्थशक्त्युद्भवस्य द्वादशभेदा इति यदुक्तं तदनुपपन्नम् । यतः—कविनिबद्धकविरत्वात् । तेनायमर्थः—स्वतः सम्भवी प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध [प० १६. १] इति द्विविधोऽपि प्रत्येकं वस्त्वलङ्काररूपत्वेन चतुर्विधो व्यञ्जकः । तस्य प्रत्येकं वस्त्वलङ्कारो व्यङ्ग्य इत्यष्टविधो ध्वनिः । अन्यत् तु सर्वं स्वबुद्धिसौष्ठवप्रकटनम् ।

स्वतःसंभव्यर्थशक्तिमूलध्वनिर्यथा—

अलससिरमणी धुत्ताणमग्गिमो पुत्ति धनसमिद्धिमओ ।

इय भणिएण नअंगी पफुल्लविलोअणा जाआ ॥

[अलसशिरोमणिः धूर्तानामग्रिमः पुत्रि धनसमृद्धिमयः ।

इति भणितेन नताङ्गी प्रोत्फुल्लविलोचना जाता ॥]

अलसत्वेन अप्रवासित्वम्, धूर्तत्वेन विदग्धत्वम्, प्रोत्फुल्लविलोचनत्वेन हर्षो व्यज्यते । अत्र ममैवायं उपभोगयोग्य इति वस्तु स्वतः संभविनार्थेन व्यज्यते ।

प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नार्थशक्तिमूलध्वनिमाह—

महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ सा अमाअंती ।

अनुदिणमणण्णकम्मा अंगं तणुअं पि तणुएइ ॥

[महिलासहस्रभृते तव हृदये सुभग सा अमान्ती ।

प्रतिदिनमनन्यकर्मा अङ्गं तनुकमपि तनूकरोति ॥]

---

१ '°स्तेनोऽभिलस्य वा' मु० पा० । २ 'तेनायं' मु० पा० ।

अत्रामान्तीत्यत्र महिलासहस्रभृतत्वं हेतुः, तनु(नू)करणे अमितत्वादिर्हेतुरिति हेत्वलङ्कारः। अत्र हेत्वलङ्कारेण प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नेन तनोस्तनु(नू)करणेऽपि तव हृदये सा न वर्तत इति विशेषोक्तिर्ध्वन्यते।

उभयशक्तिमूलध्वनिर्यथा[1] –

> अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा।
> तारका तरला श्यामा सानन्दं न करोति कम्?॥

अक्षरार्थस्तु – श्यामा नायिका रात्रिश्च, चन्द्रः शशी कर्पूरं च, सुवर्णं वा। 'चन्द्रः सुधांशुकर्पूरकम्पिल्लस्वर्णवारिषु' इति विश्वः। तारका नक्षत्रं अक्षिकनीनिका च। यद्यपि शब्दशक्तिमूलेऽर्थस्य, अर्थशक्तिमूले शब्दस्य व्यञ्जकत्वं संभवतीति उभयशक्तिमूलत्वं सर्वत्रास्ति, तथापि तत्र गुणप्रधानभावेन। अत्र तु द्वयोरेव प्राधान्ये व्यञ्जकत्वमिति उभयशक्तिमूलत्वम्। अयं निष्कर्षः – यत्र पदं परिवृत्त्यसहिष्णु तत्र पदप्राधान्यम्, अन्यत्रार्थप्राधान्यम्। [प. १६.२] प्रकृते चन्द्रसमुद्दीपिततारकाशब्दाः परिवृत्त्यसहिष्णवः, पदान्तरोपादानेऽपरार्थप्रत्ययो न स्यात्। अत एव एषां शब्दप्राधान्यम्। अन्ये न तथेति तेषां अर्थप्राधान्यम्। उभयोरेकत्र प्राधान्यादुभयशक्तिमूलत्वम्। अत्रेदमवधातव्यम् – यस्य यत्र काव्यसर्वस्वत्वमनुभूयते तत्र तस्य प्राधान्यम्। तथा चात्र रात्रिनायकयोरुपमानोपमानभावो व्यङ्ग्यः। अत्रेदमवधातव्यम् – अविवक्षितवाच्यप्रभृतयो यावन्तो ध्वनिभेदाः कथिताः ते सर्वे वाक्ये भवन्ति। उभयशक्तिमूलं विना पदे स्युरिति प्राञ्चः। 'सोऽपि पदे भवतीति नवीनाः। यत्र सर्वाणि पदानि समकक्षकतया व्यञ्जकानि प्रकृतार्थोपकारे पर्यवस्यन्ति तत्र वाक्यगतत्वेन व्यवहारः; यत्र त्वेकमेव प्राधान्येन व्यञ्जकं तत्र पदगतत्वेनेति वाक्य-पदगतत्वेन ध्वनीनां विवेकः।

तत्र वाक्ये पूर्वमुदाहृताः। पदे किञ्चित् उदाह्रियते यथा –

> बहवस्ते गुणा राजन्नेकस्तु सुमहान् गुणः।
> मित्राणि तव मित्राणि नान्यथा स्युः कदाचन॥

एवं अन्यदपि स्वयं बोध्यम्।

प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः। (मू० का० ४२, च० पा०)

> अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्र-गोमायुसङ्कुले।
> कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे॥
> न चेह जीवितः कश्चित् प्राणिधर्ममुपागतः[2]।
> प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी॥ इति।

---

१ 'उभयशक्तिमूलध्वनिरपि'। इति टिप्पणी। २ '"कालधर्मं"' मु० पा०।

शवावन्धस्य दिवा प्रभवतो गृध्रस्य पुरुषविसर्जनपरं वाक्यम् —

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत सांप्रतम् ।
बहुविघ्नो मुहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥
अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम् ।
गृध्रवाक्यात् कथं बालास्त्यजध्वमविशङ्किताः ॥ इति ।

निशि विजृम्भमाणस्य गोमायोर्जनव्यावर्तननिष्ठं चेति प्रबन्ध एव व्यञ्जकतया प्रथते । अन्येऽपि स्वयमूह्याः । अपिशब्दात् पद-वाक्ययोः पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः । पदं द्विविधं सुबन्तं तिङन्तं च । एकदेशो धातुनामरूपः प्रकृतिविभागः, तिङ्[पृ. १७.१]-सुप्रूपः प्रत्ययविभागः । यथा —

रइकेलिहिअनिवसनकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्स ।
रुद्दस्स तीअनअणं पव्वइपरिचुम्बिअं जअइ ॥

रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयु(यु)गलस्य ।
रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वत्याः परिचुम्बितं जयति ॥

उत्कर्षाश्रयो भवति, स च लोकोत्तररूपेण पिधानवत्तया । लोकोत्तरता च चमत्कारानुगुणतया रागातिशयहर्ष-लज्जासंपत्तिद्वारकरसातिशयपोषणात् । तच्च जयतिना साध्यत इति प्रकृतेर्व्यञ्जकत्वम् ।

नाम्नो व्यञ्जकता यथा —

प्रेयान् सोऽयमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया
द्वित्राण्येव पदानि वासभवनाद् यावन्न यात्युन्मनाः ।
तावत् प्रत्युत पाणिसंपुटगलन्नीवीनिबन्धं धृतो
धावित्वैव कृतप्रणामकमहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः ॥

अत्र पदानीति न तु द्वाराणि । तथा च द्वारादिव्यवच्छेदो व्यङ्ग्यः । स च संभोगसंचारौत्सुक्योपोद्बलनद्वारा रसपरिपोषकृत् । तिङ्सुपो यथा —

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः ।
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकै-
स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने मानमधुना ॥

अत्र लिखन्निति न लिखतीति अपि तु प्रसादपर्यन्तं आस्ते । तथा च लिखनस्य न साध्यत्वम् । अप्राधान्यं अबुद्धिपूर्वकत्वं व्यज्यते किन्तु प्रसादपर्यन्तायाः स्थितेरेव साध्यत्वम् । तथा आस्त इति न स्वासित इति । तेन स्थित्यतीतताविच्छेदो व्यङ्ग्यः ।

---

१ 'स्थितो' मु० पा० । २ आदर्शे "रुद्दसोणणअण" इति पाठः ।

एवं भूमिमिति न तु भूमाविति । न हि बुद्धिपूर्वं किञ्चिलि[ख]ति । अधिकरण-ताऽभिधाने आकाङ्क्षस्य कर्मण उद्देश्यत्वं प्रतीयेत, न च तथेति ।

'रमणीयः क्षत्रियकुमार आसीत् ।'

इत्यतीतकालोपदेशात् स्थितेर्वर्तमानत्व-भविष्यत्वव्यवच्छेदो गम्यते । एषा हि दाशरथिं प्रति कुपितस्य भार्गवस्योक्तिः । यथा वा —

रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः [प. १७. २] प्राप्तः प्रसिद्धिं परा-
मस्मद्भाग्यविपर्ययाद् यदि परं देवो न जानाति तम् ।
वन्दीवैष यशांसि गायति मरुद् यस्यैकबाणाहति-
श्रेणीभूतविशालशालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः ॥

अत्रासावित्यनेन निरन्तरभावनावशेन प्रत्यक्षायमाणत्वम्, भुवनेषु इति बहुवचनेन न यत्र क्वचिदिति, गुणैरित्यनेन दोषव्यवच्छेदो व्यज्यते । तथा न त्वदिति न मदिति अपि तु अस्मदिति सर्वाक्षेपकत्वम् । एवं अभाग्यादिति वक्तव्ये भाग्यविपर्ययादित्युक्तम् । तेन अभाग्याभावेऽपि भाग्यान्येव तत्त्वेन परिणतानीति प्रतीयते । तैस्तु निर्वेदशङ्कादैन्यविषादातिशयः पोष्यते । एवं रचना-वर्णयोर्व्यञ्जकत्वं वक्ष्यते । एते शुद्धभेदाः । एवं एतेषां ध्वनीनां संख्यास्वरूपेण, अनुग्राह्यानुग्राहकत्वेन, एकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चेति त्रिरूपेण संकरेण, परस्परनिरपेक्षया चैकप्रकारया संसृष्ट्या एकत्र काव्ये संसर्गरूपया अन्योऽन्य-योजनम् । यथा —

खणपाहुणिआ देअर जाआए [सुहअ] किं पि दे भणिआ ।
रुअइ पलोहरवलहीघरम्मि अणुणिज्जइ वराई ॥

[क्षणप्राघुणिका देवर जायया [सुभग] किमपि ते भणिता ।
रोदिति पश्चाद्भागवलभीगृहे अनुनीयतां वराकी ॥]

क्षणप्राघुणिका उत्सवातिथिः । पलोहरशब्दो देशभाषया गृहपश्चाद्वाची । अत्रानुनयः किं उपभोगलक्षणे अर्थान्तरे सङ्क्रमितः, किं अनुरणनन्यायेन उपभोग एव व्यङ्ग्ये व्यञ्जक इति संदेहः ।

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु तथा (दृढं ?) कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥

वेल्लनं विलासखेलनम्, पयोदसुहृदां मयूराणाम्, कामं प्रभूतम्, दृढं बलवत्, सहे इत्युत्तमपुरुषैकवचनम् । भविष्यति जीविष्यतीत्यर्थः । खेदातिशये ह ह हे[प. १८.१]ति त्रयो निपाताः । स्मृतिसंकल्पोपनीतां सीतां संबोध्याह — देवीति । अत्र वियतो निःस्पर्शस्य

लेपनासंभवात् लिप्तेति पदे व्यापने लक्षणा, सुहृदामित्यत्राचेतनस्य मित्रत्वाभावात् सुहृदा-मित्यनेन परितोषकारित्वं लक्ष्यते । तदतिशयौ च व्यङ्ग्यौ लेपन-सुहृत्त्वयोः सर्वथान्वया-प्रवेशात् वाच्ययोरत्यन्ततिरस्कारः । एवं चात्र अत्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोर्व्यापनातिशय-परितोषकारित्वातिशयध्वन्योः संसृष्टिः । आभ्यां सह रामोऽस्मीति अर्थान्तरे कष्टजी-वित्वरूपे सङ्क्रमितवाच्यस्य, एतादृशि वैधव्यहेतुसंपातेऽपि जीवित्वरूपदुःखसहनाति-शयध्वन्योः, अनुग्राह्यानुग्राहकभावेन रामपदलक्षणैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन वा अर्थान्तरसङ्क्रमित-वाच्यस्य दुःखसहनातिशयध्वनेः रसध्वनेश्च सङ्करः । एवमन्यदप्युदाहार्यम् ॥

॥ इति पादशाहश्रीअकब्बरसूर्यसहस्रनामाध्यापक-श्रीशत्रुञ्जयतीर्थकरमोचनाद्यनेकसुकृतविधायक-
महोपाध्याय-श्रीभानुचन्द्रगणिशिष्याष्टोत्तरशतावधानसाधनप्रमुदितपादशाहश्रीअकब्बर-
प्रदत्त-षु(खु)स्फहमापराभिधानमहोपाध्याय-श्रीसिद्धिचन्द्रगणिविरचिते
काव्यप्रकाशष(ख)ण्डने चतुर्थ उल्लासः ॥

ॐ

पञ्चम उल्लासः ।

अथ प्राचोक्तगुणीभूतव्यङ्ग्यभेदानाह —

अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥ (मू० का० ४५)
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः । (मू० का० ४६, पू०)

एषां स्वरूपं लक्ष्येषु वक्ष्यामः । कामिनीकुचकलशवत्या गूढं चमत्करोति, अगूढं तु स्फुटतया प्रतीयमानमिति गुणीभूतमेव । यथा —

राजर्षिवंशसूनोर्मे मर्कटद्वारसेवनात् ।
जीवन्तमपि मां ब्रह्मन् ! मृतमित्यवधारय ॥

अत्र मरणमेव श्रेय इत्यनुतापातिशयो व्यङ्ग्यः सर्वजनवेद्यत्वादगूढ एव । अपरस्य रसादेः, रसादिः अङ्गं उत्कर्षकं तथा वाच्यस्य [प० १८.२] अनुरणनरूपमङ्गम् । केचित् तु वाच्यस्य रसादिरङ्गमित्याहुः । लक्ष्यदर्शने विशिष्टं विवेचयिष्यामः । यथा —

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥

अत्र शृङ्गारः करुणस्योत्कर्षकः । तथा हि — एतत् समरपतितं भूरिश्रवसो हस्तमालोक्य तद्वधूरभिदधौ । तथा च शृङ्गारोचितरसनाकर्षणादिविलाससमरणविगलद्धृदयत्वात् शोका-वेगमधिकमुपजनयति ।

कैलासालयभाललोचनरुचा निर्वर्तितालक्तक-
　　व्यक्तिः पादनखद्युतिर्गिरिभुवः सा वः सदा त्रायताम् ।
स्पर्द्धाबन्धसमीद्धयेव सुदृढं रूढा यया नेत्रयोः
　　कान्तिः कोकनदानुकारसरसा सद्यः समुत्सार्यते ॥

कैलासालयः शिवः, अत्र गिरिभुवः कोपवशात् नेत्रयोः शोणा कान्तिरासीत् सा पादप्रणते शिवेऽपगतेति ध्वनितम् । तत्रेदमुत्प्रेक्षते—स्पर्द्धाबन्धेति । रूढा उपचिता । अत्र भावस्य त्रायतामित्यवगतस्य कविनिष्ठस्य रसो महादेवनिष्ठा रतिः प्रणतिरवसेया । महादेवोऽपि यत्प्रसादनाय प्रणमति तत्र भक्तिरुचितेति रसस्य भावाङ्गता । एवं सर्वत्रा-ङ्गाङ्गिभावो बोध्यः ।

अनुरणनरूपस्य रसस्य वाच्याङ्गत्वं यथा—

जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धितधिया
　　वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम् ।
कृतालंकाभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना
　　मयाप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता ॥

मया रामत्वं रामसादृश्यं आप्तं प्राप्तमित्यन्वयः । स्वपक्षे जनस्थानं नगर-ग्रामादि, रामपक्षे जनस्थानं खर-दूषणादिनिवासः दण्डकारण्यं वा । स्वपक्षे कनकविषया मृगतृष्णा निःफलाऽऽशा, रामपक्षे कनकमृगे सुवर्णमृगे तृष्णा च । वै निश्चितं देहि प्रयच्छ, रामपक्षे विदेहापत्यं स्त्री वैदेही सीता च । भर्तुः भरणकर्तुः । परिपाटीषु मुखविवलनाङ्ग-मोटनाऽनवधानादिषु का घटना न कृता तां वद । यद्वा [पृ. १९.१] काभर्तुः कुत्सितभर्तुः । वदनपरिपाटीषु वचनभङ्गीषु, घटना योजना अलमत्यर्थेन न कृता । अलं व्यर्थं वा कस्य सुखस्याभर्तुरपोषकस्य नीचजनस्येत्यर्थः । लङ्काभर्तुः रावणस्य वदनानां परिपाट्यां पङ्क्त्यां इषुघटना शरसंयोजनं च । स्वपक्षे कुशलं प्रचुरं वसु धनं यस्य, एवंभूतता । कुश-लवौ सुतौ यस्याः सा सीता । अत्र प्रकृताप्रकृतयोः कवि-रामयोः साम्यं व्यञ्जनया बोध्यते । अत्र शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो रामेण सह उपमानोपमेयभावो मयेत्यादिना वाच्याङ्गतां नीतः । शब्दानां परिवृत्त्यसहिष्णुत्वेन शब्दशक्तिमूलता । वाच्यस्य मयाप्तं रामत्वस्य । अन्यत्रान्यतादात्म्यारोपरूपस्यातिशयोक्तिरूपस्य अङ्गतां उत्कर्षतां नीतः । मयाप्तं रामत्वं इत्यभिधाय कविनेति शेषः । तदनुक्तावुपमाध्वनित्वानपायः स्यात् । अयमर्थः—सदृशो तत्त्वारोपस्य चमत्कारित्वात्, वाच्यस्य तत्त्वारोपस्य प्रतीयमानं स्वसाम्यमुत्कर्षकमित्य-पराङ्गता । ननु कुतो रामत्वं प्राप्तमित्याकाङ्क्षाया निवर्तकस्य साम्यस्य वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वमेव नापराङ्गत्वम्? इति चेत्, न । जनस्थानभ्रमणादिरूपसाम्यस्य शब्दशक्तिमूलव्यङ्ग्यतः प्रागेवावगतौ रामत्वारोपरूपवाच्यस्य सिद्धत्वात् । अङ्गरूपोपमायां तु जनस्थान इत्यादि-शब्द एव सादृश्यम् ।

वाच्यसिद्ध्यङ्गं यथा—

> गच्छाम्यच्युत ! दर्शनेन भवतः किं प्रीतिरुत्पद्यते
> किं त्वेवं विजनस्थयोर्हतजनः संभावयत्यन्यथा ।
> इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसा-
> माश्लिष्यन् पुलकोत्कराञ्चिततनुर्गोपीं हरिः पातु वः ॥

अच्युतत्वामकं अपरिचायकत्वं च । किं दर्शनेन अपि तु संभोगेन संभावयेति । अन्यथासंभावनमावश्यकं तत् किमित्यात्मानं वञ्चयाव इत्यर्थो व्यङ्ग्याः । ते चामन्त्रणाद्यर्थ-स्योपपादकाः । अन्यथा आम[पृ० १९.२]न्त्रणभङ्गिस्वरूपाज्ञानेन इत्यर्थानन्वयः स्यात्, इत्याह—अच्युतादि व्यङ्ग्यं आमन्त्रणेत्यादि वाच्यस्याङ्गमिति ।

21203

अस्फुटं यथा—

> अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता ।
> नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम् ॥

अत्रादृष्टो यथा न भवसि वियोगभयं च नोपपद्यते तथा कुर्याः—इति व्यङ्ग्यं झटिति सहृदयैरपि न प्रतीयते । नवीनास्तु अयं भेदः स्वबुद्धिमात्रकल्पित एव । इदं व्यङ्ग्यं व्यङ्ग्यान्तरवत् सहृदयैर्विलम्बेन प्रतीयते इत्यस्य शपथैरेव प्रत्याययितुं शक्यत्वात् ।

सन्दिग्धप्राधान्यं यथा—

> हरस्तु किञ्चित् परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
> उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥

अत्र परिचुम्बितुमैच्छदिति व्यङ्ग्यम्, किं वा विलोचनव्यापारणं वाच्यं प्रधानमिति सन्देहः ।

तुल्यप्राधान्यं यथा—

> ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।
> जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥

अत्र जामदग्न्यः सर्वेषां क्षत्रियाणामिव रक्षसां क्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य दण्डस्य, वाच्यस्य च सामरूपस्य समं प्राधान्यम् । तथा हि—भृत्युपदेशमित्रत्वाभिधानं सामवाच्यम्, उक्तरूपश्च व्यङ्ग्यो दण्डः । उभयोरप्यनर्थनिवारकत्वे तुल्यता ।

काकाक्षिप्तं यथा—

> मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
> दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
> संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरुं
> सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥

सन्धिश्रवणकुपितस्य भीमसेनस्योक्तिरियम् । भवतामिति न ममापि । तेन तत्कृतसन्धाने नास्माकं सन्धिरिति प्रतिज्ञा विरुद्धनिषेधाभिधायिषु नञ्षु काकुर्निषेधान्तराक्षेपिका । अभावाभावश्चावधारणमेवेत्याह – मथ्नाम्येवेति व्यङ्ग्यं गुणीभूतं तदयुक्तम् । तथा हि – मथ्नाम्येवेति व्यङ्ग्यस्य भीमसेनगतक्रोधोत्कर्षकत्वेन रौद्ररसोपोद्बलनद्वारा वाच्यात् सातिशयचमत्कारित्वेन ध्वनित्वे [पृ० २०.१] संभवति कुतो गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् ? ।

असुन्दरं तद् यत्र व्यङ्ग्यं चमत्कारित्वे वाच्यमुखनिरीक्षकम् । यथा –

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम् ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥

अत्र दत्तसङ्केता नागतेति व्यङ्ग्यापेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात् ॥

॥ इति पादसाह-श्रीअकब्बरसूर्यसहस्रनामाध्यापक-श्रीशत्रुञ्जयतीर्थकरमोचनाद्यनेकसुकृतविधापक महोपाध्याय-श्रीभानुचन्द्रगणिशिष्याष्टोत्तरशतावधानसाधनप्रमुदितपादसाह-श्रीअकब्बरप्रदत्त-खुस्फहमापराभिधानमहोपाध्याय-श्रीसिद्धिचन्द्र-गणिविरचिते काव्यप्रकाशखण्डने पञ्चम उल्लासः ॥

ॐ

षष्ठ उल्लासः ।

चित्रभेदास्त्वलङ्कारनिरूपण एव निरूपयिष्यन्ते । इदमवधेयम् –

शब्दार्थचित्रं यत् पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम् ।
गुणप्रधानतस्तत्र स्थितिः शब्दार्थचित्रयोः ॥ (मू० का० ४८)

न तु शब्दचित्रे नार्थस्य चित्रताऽर्थचित्रे शब्दस्य । तथा केश्चित् शब्दचित्रमेवेष्यते । केश्चिदर्थचित्रमेवेष्यते । अस्माभिस्तु द्वयमेवेति । उदाहरणं तु प्राक्तनं बोध्यम् ।

॥ इति पादसाह-श्रीअकब्बरसूर्यसहस्रनामाध्यापक-श्रीशत्रुञ्जयतीर्थकरमोचनाद्यनेकसुकृतविधापक-महोपाध्यायश्रीभानुचन्द्रगणिशिष्याष्टोत्तरशतावधानसाधनप्रमुदितपादसाह-श्रीअकब्बरप्रदत्तखुस्फहमापराभिधानमहोपाध्यायश्रीसिद्धिचन्द्र-गणिविरचिते काव्यप्रकाशखण्डने षष्ठ उल्लासः ॥

ॐ

सप्तम उल्लासः।

अथ दोषस्वरूपमाह —

> येषां ज्ञानाच्चमत्कारो न सम्यगुपजायते।
> सालङ्कारगुणेऽप्यत्र ते दोषाः परिकीर्त्तिताः॥

अत्रेति काव्ये। दुष्टं हि लोके सगुणोऽपि सालङ्कारोऽपि दुष्टत्वेन ज्ञातो न तथा चमत्करोति तथा काव्यमपि। प्रकाशकृतस्तु

> **मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्यः।**
> **उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः॥** (मू० का० ४९)

अत्र मिश्राः मुख्यायेदं मुख्यार्थं इति चतुर्थी[ए० २०.२]समासः। तच्च शब्दार्थयुगलम्। यस्य येन रूपेण रसव्यञ्जकत्वं तस्य तद्रूपप्रच्यवः। फलं तु रसस्य सम्यगनवभासः। लोकेऽपि दृष्टो दीपादिव्यञ्जकवैगुण्येन घटादेरपि सम्यगनवभासः। अर्थ-शब्दयोर्मुख्यार्थत्वं दर्शितम्, 'तदाश्रये'त्यादिना। इदं स्वग्रे व्याख्यास्यते। न चात्र शब्दार्थयोः रसव्यञ्जकतावच्छेदकरूपविरहो दोष इति पर्यवसन्नम्। तच्च न चारु। रूपान्तरविरहेण दोषाभावगुणालङ्काराणामेव रसव्यञ्जकतावच्छेदकतया दोषानुप्रवेशे आत्माश्रयापत्तेरिति वाच्यम्। यतो दोषाभावस्य रसव्यञ्जकतावच्छेदकरूपस्य रूपान्तरेण रसव्यञ्जकतावच्छेदकरूपेण प्रवेशोऽत्र कृतः, न तु दोषाभावत्वेन। कान्योऽन्याश्रयप्रसङ्गः। यद्वा श्रुतिकटुत्वादिनैव विशेषरूपेण प्रवेशः कर्त्तव्य इत्याहुः। अन्ये तु मुख्य इतरेच्छानधीनेच्छाविषयः, तच्च सुखम्, परमपुरुषार्थत्वात्। एवं च मुख्यत्वं तु सुखान्तरेऽप्यतिप्रसक्तमिति तद्वारणार्थपदम्। अर्थत्वं अर्थ्यमाणत्वं शब्दजन्यसाक्षात्कारविषयत्वमिति यावत्। काव्यादन्यतः शब्दात् न सुखस्य प्रत्यक्षता किन्तु शाब्दत्वमेव। शब्दे तज्जन्यप्रत्यक्षविषयतयातिव्यासिवारकं मुख्यपदम्। उक्तमुख्यत्वस्य सुखादन्यत्रासंभवात्। एतेनात्र पदार्थतावच्छेदकयोः परस्परव्यभिचाराभावात् न कर्मधारयोऽर्थपदवैयर्थ्यं चेति दूषणद्वयं निरस्तम्। हतिरपकर्षो न तु प्रतिबन्धो दुष्टेष्वपि रसानुभावात्। अपकर्षस्तु रसनिष्ठो धर्मविशेषः। दोषज्ञानं तु तद्व्यञ्जकम्। न त्वेवं अभिधेयेऽर्थे मुख्यशब्दप्रयोगः, अर्थशब्ददोषविभागश्च न स्यात्। उक्तमुख्यार्थत्वस्य अपकर्षस्य च रसमात्रवृत्तेरित्यतः 'तदाश्रयादि'त्याद्युक्तम्। आश्रयणमाश्रयः उपायत्वेनापेक्षणम्। वाच्यो मुख्य इत्यन्वयः। एवं च वाच्ये विभावादौ भाक्तो मुख्यपदप्रयोगः। आस्वादोपाय[ए० २१.१]त्वं च दर्शितम्। उभयम्—रसो वाच्यश्च। शब्दाद्यास्तदुपयोगिनः विभावादिकं प्रत्याय, रसप्रत्यायनात्। तेन रसोपायत्वेन, तेषु अर्थशब्दादिषु, सः दोषः। न केवलं रसेऽपीत्यपेरर्थः। गुणवद्दोषोऽपि साक्षात् सम्बन्धेन रसे, व्यञ्जकत्वेन तु अर्थे शब्दादिष्विति व्याचक्षते। **नवीनास्तु**—एतन्मतनिष्कर्षस्तु रसापकर्षज्ञानजनकज्ञानविषयत्वं दोषत्वम्, अपकर्षस्तु रसनिष्ठोऽखण्डो-

पाधिरिति । तथा च रत्याद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य आनन्दांशे लेशेन क्षितिर्मुख्यार्थहतिः । सा च दोषज्ञानाद् भवति । तन्न युक्तम् ।

उचिविसेसो कव्वो भासा जा होइ सा होउ ।

इति काव्यरसज्ञानां वाचोयुक्तिश्रवणात् । च्युतसंस्कृत्यादीनां मुख्यार्थहतित्वाभावात्—इत्याहुः ।

यद्यपि सर्वे दोषाः वाच्यवचन-अवाच्यवचनयोर्द्वयोरेवान्तर्भवितुमर्हन्ति, तथापि तयोरेव विषयविशेषप्रदर्शनार्थं विभागार्थं दोषानाह—

दुष्टं पदं श्रुतिकटु च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम् ।
निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽश्लीलम् ॥ (मू० का० ५०)
सन्दिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत् क्लिष्टम् ।
अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृत् समासगतमेव ॥ (मू० का० ५१)

श्रुतिकटुपदं दुष्टमेवं सर्वत्रान्वयः । श्रुतिकटुत्वं च मुख्यार्थापकर्षकत्वे सत्योजोव्यञ्जकवर्णवत्त्वं वीरादिष्वदुष्टतयातिप्रसङ्गवारणाय सत्यन्तम् । तथा चात्र प्रकृतरसव्यञ्जकाभावाद् रसोद्बोधरूपं कार्यं न जायते । प्रतिकूलवर्णे तु प्रकृतरसप्रतिबन्धकवर्णैः प्रतिबध्यत इत्यनयोर्भेदः । वर्णानां रसव्यञ्जकत्वं तत्प्रतिकूलत्वं च वक्ष्यते । यथा—

अनङ्गमङ्गलगृहापाङ्गभङ्गितरङ्गितैः ।
आलिङ्गितः स तन्वङ्ग्या कार्तार्थ्यं लभते कदा ॥

अत्र कार्तार्थ्यमिति श्रुतिकटु । नवीनास्तु—तन्न चारु, वर्णानां मुख्यार्थापकर्षकत्वाभावात् । अत एव

अलसवलितैः प्रेमार्द्रार्द्रैर्मुहुर्मुकुलीकृतैः
क्षणमभिमुखैर्लज्जालोलैर्निमेष[पृ० २१. २]पराङ्मुखैः ।
हृदयनिहितं भावाकूतं वमद्भिरिवेक्षणैः
कथय सुकृती कोऽयं मुग्धे ! त्वयाऽद्य विलोक्यते ॥

इत्यत्र महाकविभिः शृङ्गारे परुषवर्णोपादानं कृतमिति वदन्ति ।

च्युतसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीनं असाध्विति यावत् । यथा—

प्रजा इवाङ्गादरविन्दनाभेः शम्भोर्जटाजूटतटादिवापः ।
मुखादिवाथ श्रुतयो विधातुः पुराज्जिरीयुर्मधुजिद्ध्वजिन्यः ॥

अत्र अरविन्दनाभेरिति आमगाम (?) इति वा । तदपि न । तत्रान्वयबोधस्यानुभवसिद्धत्वात्, साधुशब्दस्मरणादिना वा द्वित्रिक्षणविलम्बस्याकिञ्चित्करत्वात्, मुख्यार्थहतेरभावात्, तथाविधरचनायाः कवेरेवापकर्षो न रसोद्बोधस्य ।

१ 'अरविन्दं नाभौ यस्यासौ अरविन्दनाभः, इत्यच् विधानात्' । इति टि० ।

एवं निहतार्थमपि न दूषणम्, द्वित्रिक्षणविलम्बस्याकिञ्चित्करत्वात् ।

एवमप्रयुक्तं तथाऽऽम्नातमपि कविभिर्नादृतमित्येवं रूपम् । उदा०

यथायं दारुणाचारः सर्वदैव विभाव्यते ।
तथा मन्ये दैवतोऽस्य पिशाचो राक्षसोऽथवा ॥

अत्र दैवतशब्दः पुंस्त्वाभासोऽपि न केनचित् प्रयुज्यत इत्यप्रयुक्तम् । तदपि न दूषणम् । सत्यनुशासने कवेरनादरणं कवेरनादरार्थैव पर्यवस्यति ।

असमर्थं उपसंदानं विनाऽनुशिष्टार्थो(? र्थ)बोधकम् । उपसंदानं उपसर्गः । यथा—

तीर्थान्तरेषु स्नानेन समुपार्जितसत्क्रियः ।
सुरस्रोतस्वतीमेष हन्ति संप्रति सादरम् ॥

अत्र हन्तीति गमनार्थः, बोधं प्रति स्वरूपायोग्यत्वं दूषकता बीजम् । इदमपि न दूषणं सम्यगिव प्रतिभाति । तथा हि, उद्धति-पद्धतीत्यादौ उपसंदानेन अनुशिष्टार्थबोधने सामर्थ्यं अङ्गीकृतमेव । अनुपसंदाने सामर्थ्यं नास्तीति केन वार्यते ? । किञ्च, इदं तावत् काव्याकाव्यसाधारणं दूषणम्, काव्ये विशिष्य किमित्युच्यत इति न जानीमः ।

एवं च्युतसंस्कृतिनिरर्थकानुचितार्थाश्लीलाविमृष्टाविधेयांशसन्दिग्धाप्रतीतक्लिष्टविरुद्धमतिकृतां काव्याकाव्यसाधारणानां दोषाणां काव्ये विशिष्य दोषतया उपादानं न [पृ० २२, २] चारुतामावहति ।

एतेषां क्रमेणोदाहरणानि—च्युतसंस्कृति प्रागुदाहृतम् । अन्यदुदाह्रियते ।

निरर्थकम्—अर्थः प्रकृतार्थास्वादपरिपोषणम्, तद्रहितं पदम् । यथा—

उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते मम हि गौरि ।
अभिवाञ्छितं प्रसिद्ध्यतु भगवति ! युष्मत्प्रसादेन ॥

अत्र हि पदं अनुचितार्थम् ।

अवाच्यवचनम्—

तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते प्रयत्नतः सत्रिभिरिष्यते च या ।
प्रयान्ति तामाशु गतिं मनस्विनो रणाध्वरे ये पशुतामुपागताः ॥

अत्र पशुपदं कातरतां अभिव्यनक्तीति प्रकृतार्थोत्कर्षप्रतिबन्धकत्वं दूषकताबीजम् ।

अश्लीलं त्रिधा—व्रीडा-जुगुप्साऽमाङ्गल्यव्यञ्जकत्वात् । सभ्यवशीकरणसंपत्तिः श्रीः तां लातीति, रैश्रुतेर्लैश्रुतिरिति श्लीलम्, न श्लीलं अश्लीलम् । क्रमेणोदा०

साधनं सुमहद् यस्य यन्नान्यस्य विलोक्यते ।
तस्य धीशालिनः कोऽन्यः सहेतारालित(तां)भ्रुवम् ॥

अत्र साधनशब्दः पुँल्लिङ्गवाचकः, तत्स्मृत्या व्रीडा । सैन्यार्थस्तु विवक्षितः । व्रीडापक्षे सुमहद् द्वादशाङ्गुलं यस्याश्वपुरुषस्य वर्तते । यत् साधनम्, अन्यस्य शशकस्य वृषभस्य वा

१ उपसर्गं विना । २ अनुशिष्टार्थः शास्यार्थः । ३ 'लश्रुते रश्रुति॰' इत्यादर्शे ।

न दृश्यते । अथ च धीशालिनः परस्त्रीवश्याद्युपायाभिज्ञस्य । तस्यारालिता वक्रां सकामकटाक्षां श्रुत्वं कः प्रातिवेश्मिकादिः सहेत निःशङ्को वर्तेत इत्यर्थो निर्बाधः । एवमन्यदप्युदाहार्यम् ।

अविमृष्टविधेयांशमिति – अविमृष्टः प्राधान्येनादृष्टो विधेयांशो यत्र, तदविमृष्टविधेयांशम् । प्राधान्यं तु विधेयताप्रतीतियोग्यत्वम् । तदुक्तम् –

यच्छब्दयोगः प्राथम्यं सिद्धत्वं वाऽप्यनूद्यता ।
तच्छब्दयोग आन्तर्य्यं साध्यत्वं च विधेयता ॥

तथा उद्देश्यं विधेयं च यदि पृथक् पदाभ्यामुपतिष्ठते, तत्र प्राप्तमुद्दिश्य अप्राप्तं विधीयते । यथा पर्वतो वह्निमानिति । न तु समासे अन्यथा वह्निमत्पर्वत इत्याद्यभिधीयेत । उदाहरणम् –

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो [पृ० २२. २] रावणः ।
धिग्धिक् शत्रु (?क्र) जितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥

न्यक्कारः क इत्यत आह – यदरय इति । मम तु त्रैलोक्यं सेवकमेवेति न्याय्यम् । न तु प्रत्यर्थितया कस्यापि स्थितिरित्यर्थः । अल्पो ग्रामो ग्रामटिका । अत्रायमेव न्यक्कार इत्येव वाच्यम् । तदैव विधेयस्य प्राधान्येन निर्देशो भवति । अयं तु वादकथादौ दोषः । यन्मते खले कपोतन्यायेन शाब्दबोधः तन्मते दोषलेशोऽपि न ।

सन्दिग्धम् – तात्पर्यसन्देहास्पदीभूतार्थद्वयोपस्थापकम् ।

आलिङ्गितस्तत्र भवान् सम्पराये जयश्रिया ।
आशीःपरम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु ॥

अत्र च वन्द्यामिति बो(व ?)द्धायां किं नमस्यायामिति सन्दिग्धम् । वन्द्यामित्यत्र प्रथमे हठहृतमहिलायां कृपां कुर्विति । द्वितीये नमस्यां आशीःपरम्परामित्यर्थोपपत्तौ साधक-बाधकमानाभावात् संशय इति भावः । अत्रार्थानिश्चय एव दूषकताबीजम् ।

अप्रतीतमिति – प्रतिशास्त्रे इतं ज्ञातं प्रतीतम्, न प्रतीतं यत्किञ्चित् शास्त्रपरिभाषितमित्यर्थः । यथा –

सम्यग्ज्ञानमहाज्योतिर्दलिताशयताजुषः ।
विधीयमानमप्येतन्न भवेत् कर्मसा(बं ?)धनम् ॥

अत्राशयशब्दो वासनापर्यायो योगशास्त्र एव प्रसिद्ध इति विरलप्रयोगेन न झटिति प्रत्यायकत्वं दूषकताबीजम् ।

ग्राम्योऽविदग्धस्तत्प्रयुक्तं ग्राम्यम् । यथा –

राकाविभावरीकान्तसङ्क्रान्तद्युति ते मुखम् ।
तपनीयशिलाशोभि कटिश्च हरते मनः ॥

अत्र कटिरिति ग्राम्यम्, श्रोणीनितम्बादिकमौपनागरिकम् । इत्यत्र विनिगमकस्य वक्तुमशक्यत्वात् । अत्र वक्तुर्वैदग्ध्यं रसापकर्षश्च दूषकताबीजम् ।

नेयार्थम्—यद् रूढि-प्रयोजनाभ्यां लक्षणयाऽप्रयुक्तम् । यथा—

वज्रवैडूर्यचरणैः प्रातर्युक्तं नभस्तलम् ।
कश्मीररागारुणितं विष्णोर्वक्ष इवाबभौ ॥

वज्रवैडूर्यचरणैरम्बररत्नपादैरित्यर्थो नेयार्थम् । दूषकताबीजं तु कवेरव्युत्पत्तिसन्धानेन वैरस्यापादकत्वम् ।

एवम्[पृ० २३.] वाचकं सङ्केतविरहादबोधकम् । असमर्थेनासङ्केतः लाक्षणिकेनाबोधकत्वमिति तयोर्न प्रसङ्गः । यथा—

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः ।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥

अत्र जन्तुपदमदातरि प्रयुक्तम्, तत्र नाभिधायकमिति । तदपि न चारु, तात्पर्यानुपपत्त्या लक्षणया सामान्यशब्दस्यादातृत्वविशेषपरत्वसंभवात् ।

विरुद्धमतिकृद्—यत् तात्पर्यविषयीभूतार्थधीप्रतिबन्धकीभूतासभ्यार्थोपस्थापकम् । अनुचितार्थाश्लीलयोर्न परस्परं प्रति प्रतिबन्धकता । निहतार्थे विलम्बेन प्रतीतिरिति तयोर्भेदः । यथा—

सुधाकरकराकारविशारदविचेष्टितः ।
अकार्यमित्रमेकोऽसौ तस्य किं वर्णयामहे ॥

अत्र कार्यं विना मित्रमिति विवक्षितम्, अकार्येषु मित्रमिति प्रतीतिः ।

श्रुतिकटु समासगतं यथा—

सा च दूरे सुधासान्द्रतरङ्गितविलोचना ।
बर्हिनिर्ह्रादनार्होऽयं कालश्च समुपागतः ॥

एवमन्यदपि बोध्यम् ।

अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम् ।
वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन ॥ (मू० का० ५२)

न पुनः सर्वे एते पददोषाः, साकाङ्क्षनानापदवृत्तयो यदा भवन्ति तदा वाक्यदोषा इत्युच्यन्ते । यथा—

अनङ्गमङ्गलगृहापाङ्गभङ्गितरङ्गितैः ।
आलिङ्गितः स दीर्घाक्ष्याः कार्तार्थ्यं लभते कदा ? ॥

एवमन्येऽप्युदाहार्याः ।

---

१ अग्राम्यम् । २ अवाचकं तत् यत् शक्तिविरहादबोधकमित्यर्थः ।

अथ पदैकदेशे यथासंभवमुदाहरणम्—

अलमतिचपलत्वात् स्वप्नमायोपमत्वात्
परिणतिविरसत्वात् सङ्गमेनाङ्गनायाः ।
इति यदि शतकृत्वस्तत्त्वमालोचयाम-
स्तदपि न हरिणाक्षीं विस्मरत्यन्तरात्मा ॥

अत्र त्वात् इति कष्टम् । एवमन्यदपि ज्ञेयम् ।

अथ वाक्यमात्रगामिदोषानाह—

प्रतिकूलवर्णमुपहतलुप्तविसर्गं विसन्धि हतवृत्तम् ।
न्यूनाधिककथितपदं पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम् ॥ (मू० का० ५३)

... ...

अपदस्थपदसमासं विमतंपरार्थं[1] प्रसिद्धिपरिहीनम् ।
(मू० का० ५४, उ०)

भग्नप्रक्रममक्रम[illegible][2] वाक्यमेव तथा ॥
(मू० का० ५५, पू०)

रसानुगुणत्वं वर्णानां प्राचीनसंमतं वक्ष्यते, तद्विपरीतत्वं प्रतिकूलत्वम् । यथा शृङ्गारे—

अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि माम् ।
कम्बुकण्ठ्याः क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठार्तिमुद्धर ॥

अत्र मधुरवर्णत्वमुचितम् । एवं रौद्रादौ मसृणवर्णाः प्रतिकूला इति मन्तव्यम् । इदं च न चारु । तत्तद्रसेषु तत्तद्वर्णानामानुकूल्यस्य प्रातिकूल्यस्य वा सर्वैरनभ्युपगमत्वात् ।

उपहतम्—ओ(उ?)त्वं प्राप्तो लुप्तो वा विसर्गो यत्र तत् । यथा—

धीरो विनीतो निपुणो निर्विकारो नृपोऽत्र सः ।
यस्य भृत्या बलोत्सिक्ता भक्ता बुद्धिप्रभाविताः ॥

अत्र नैरन्तर्येणानेकस्थानोपहतविसर्गत्वेनैव दूषकता । एवं उपहतेत्यादिचतुःषु पतत्प्रकर्षे च बन्धशैथिल्यापादकत्वमेव दूषकताबीजम् ।

सन्धेर्वैरूप्यं विश्लेषः ।

राजन् ! विभान्ति भवतश्चरितानि तानि
इन्दोर्द्युतिं दधति यानि रसातलेऽन्तः ।
धीदोर्बले अतितते उचितानुवृत्ती
आतन्वती विजयसंपदमेत्य भातः ॥

---

1 'संकीर्णं गर्भितं प्रसिद्धिहतं' इति मु. पु. । 2 '°क्रममतपरार्थं च' इति मु. पु. पाठः ।

तत्र संहितां न करोमीति स्वेच्छया सकृदपि दोषः, प्रगृह्यादिहेतुके त्वसकृत्।

हतवृत्तम्—आतयतिभङ्गादिरसाननुगुणं च वृत्तम्। यथा—

अमृतममृतं कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा
मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम्।
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनो
वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात् प्रियादशनच्छदात्॥

अत्र हरिणीच्छन्दसि षष्ठे दशमे सप्तदशे यतिरुचिता। चतुर्थे तु पादे 'यदिहान्यत्स्वादु स्याद्' इति यतिभङ्गादश्रव्यम्। नन्वत्रेहान्यशब्दयोः सन्धौ 'अन्तादिवच्च' इत्यन्तवद्भावाद् वा शब्दे यतिर्युक्तैव। तदुक्तम्—

पूर्वान्तवत्स्वरः सन्धौ क्वचिदेव परादिवत्।
एष्टव्यो यतिचिन्तायां यणादेशः परादिवत्॥ इति॥

प्रयोगोऽपि—

स्वादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेनाभिरामा।

इति। तस्माच्चिन्त्यमेतत्। यथा वा—

हा नृप! हा बुध! हा कविबन्धो! विप्रसहस्रसमाश्रय! देव!।
मुग्धविदग्धसभान्तररत्न! क्वासि गतः क्व वयं च तवैते॥

हास्य[पृ० २४. १]व्यञ्जकमहृत्तम्।

न्यूनपदं यथा—

त्वयि निबद्धरतेः प्रियवादिनः प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसः।
कमपराधलवं मम पश्यसि त्यजसि मानिनि! दासजनं यतः॥

अत्रापराधलवमपीति वाच्यम्।

अधिकपदं यथा—

इदमनुचितमक्रमश्च पुंसां यदिह जरास्वपि मान्मथा विकाराः।
यदपि च न कृतं नितम्बिनीनां स्तनपतनावधि जीवितं रतं वा॥

अत्र कृतमिति। कृतं प्रत्युत प्रक्रमभङ्गमावहति। अत्राकाङ्क्षाविरहः स्फुट एव दूषकताबीजम्।

कथितपदं यथा—

अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापलीला
परिमिलननिमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली।
सुतनु! कथय कस्य व्यञ्जयत्यञ्जसैव
स्मरनरपतिलीलायौवराज्याभिषेकम्॥

हे सुतनु ! वरतनो ! ते तव गल्ल(ण्ड)पाली कस्य स्मर एव नरपतिस्तस्य लीलाराज्यपरिभोगस्तत्र यौवराज्यं कुमारपदवी तस्मिन् अभिषेकं व्यञ्जयति बोधयति । कथं अञ्जसैव शीघ्रं यस्तव भोक्ता तस्मै कामेन स्वराज्यविभागो दत्तः । स एव कामस्य मान्यो यस्मै त्वत्सदृशं रत्नं भोगाय दत्तमित्यर्थः । कीदृशी गण्डपाली ? करतलमेव तल्पं शय्या तत्र कल्पिता रचिता निद्रालीला यस्याः सा शोकेन कपोलतले निहितेत्यर्थः । पुनः कीदृशी ? परिमिलनेन परितो हस्ततलस्पर्शेन निमीलत्पाण्डिमा अस्तं गच्छन् गौरभावो यस्याः सा । करसंपर्केण लौहित्योदयादिति भावः । करसङ्गेन पत्युः करस्पर्शं व्यनक्ति । तल्पस्वापेन पत्युः तल्पस्वापम् । पाण्डिमात्यागेन पतिभोगप्रयुक्तवर्णान्तरप्राप्तिं च व्यनक्तीति गम्यम् । अत्र लीलेति पिष्टपेषणवद्चमत्कारित्वमेव दूषकताबीजम् ।

पतत्प्रकर्षं यथा—

कः कः कुत्र न घुर्घुरायितघुरीघोरो घुरेच्छूकरः
कः कः कं कमलाकरं विकमलं कर्तुं करी नोद्यतः ।
के के कानि वनान्यरण्यमहिषा नोन्मूलयेयुर्यतः
सिंहीस्नेहविलासबद्धवसतिः पञ्चाननो वर्तते ॥

कः कः शूकरो वराहः कुत्र न घुरेत् न सञ्चरेत् अपि तु सर्वत्र । कीदृशः ? [पृ० २४. २] घुर्घुरायिता शब्दविशेषवती या घुरी पोत्रं शूकरमुखस्याग्रभागः तेन घोरो भयङ्करः । घुरी वाद्यभाण्डमिति केचित् । कः कः करी हस्ती, कं कमलाकरं सरोवरं विकमलं कमलाभावविशिष्टं कर्तुं नोद्यतो नोद्युक्तः ? अपि तु उद्युक्त एव । के के अरण्यमहिषा वनमहिषा कानि च वनान्यरण्यानि नोन्मूलयेयुः ? अपि तु उन्मूलयेयुरेव । यतो हेतोः पञ्चाननो सिंहः सिंह्यां स्वभार्यायां यः स्नेहः प्रेम तस्य यो विलासस्तेन बद्धा स्वीकृता वसतिः स्थैर्यं येन तादृशो वर्तते तिष्ठति । अत्र शूकराद्यभिधाने विकटानुप्रासः कृतः । स च सिंहाभिधाने पतितः । अशक्तिसूचकत्वमेव चात्रापि दूषकताबीजम् । रसानुगुणत्वेन क्वचित् तत्पातो न दोष इत्यनित्यदोषोऽयम् ।

समाप्तपुनरात्तम्—यत्र विशेषणं समाप्तं जनितान्वयबोधं पुनरात्तं आवृत्तं तत् । वस्तुतस्तु विशेष्यं समाप्तं जनितान्वयबोधं अनु कर्मकोपादानं विना पुनरात्तं आवृत्तं यत्रेति बोध्यम् । यथा—

क्रेङ्कारः स्मरकार्मुकस्य सुरतक्रीडापिकीनां रवो
झङ्कारो रतिमञ्जरीमधुलिहां लीलाचकोरीध्वनिः ।
तन्व्याः कञ्चुलिकापसारणभुजाक्षेपस्खलत्कङ्कण-
क्वाणः प्रेम तनोतु वो नववयोलास्याय वेणुस्वनः ॥

तन्व्याः कृशाङ्ग्याः कञ्चुलिकापसारणार्थं यो भुजाक्षेपः कान्तस्य दोरान्दोलनं तेन स्खलन् पतन् यत् कङ्कणं तस्य क्वाणः शब्दो वः युष्माकं प्रेम प्रीतिं तनोतु विस्तारयतु ।

कीदृशः ? स्मरकार्मुकस्य कन्दर्पधनुषः, केङ्कारः शब्दविशेष इति रूपकम् । एवमग्रेऽपि । सुरतक्रीडा निधुवनलीला सैव पिकी कोकिला तासां रवः कूजितम्, रतिरनुरक्तिः सैव मञ्जरी तस्या मधुलिहः षट्पदास्तेषां झङ्कारः कोलाहलविशेषः, लीला क्रीडा सैव या चकोरी तस्य ध्वनिः कण्ठनादः, नवं नूतनं यद् वयो यौवनं तस्य लास्यं नृत्यं तदर्थं वेणुस्वनो वंशध्वनि-रित्यर्थः । अत्र तनोतु व इति समाप्तमेव वाक्यं न च वय इत्या[पृ० २५. १]दि विशेषणेन पुनरुपात्तम् । नन्वत्र क्रियाकारकभावेनान्वयबोधे जाते पुनर्विशेषणान्वये निराकाङ्क्षत्वमेव दूषकताबीजं वाच्यम् । तत् तु न घटते । पुनर्विशेषणांशे तात्पर्यसत्त्वेन तात्पर्यविषयीभूतान्वय-बोधाजननेन तद्घटिताकाङ्क्षायाः सत्त्वात्, इति चेत्, साध्ववोचः । किन्त्वत्र तात्पर्यग्राहकं उत्कटं नास्ति, तद्ग्रहविलम्बेनान्वयबोधविलम्ब एव दूषकताबीजम् । यत्र तु तद् ग्राहकमस्ति तत्र नेदं दूषणम् । यथा नववयोलास्याय गीतं तथा तथेत्यस्य उत्कटता-ग्राहकसत्त्वात् । एवमन्यत्रापि बोध्यम् ।

अस्थानस्थपदम् — अपदस्थपदं अयोग्यस्थानस्थमित्यर्थः । तत्त्वं च यथास्थितस्वार्थानुभावकत्वे सति स्वसाकाङ्क्षव्यवहितस्थानप्रयुक्तत्वम् । यथास्थितिः तथैवानुपूर्व्या । तेन सङ्कीर्णगर्भितादिषु न प्रसङ्गः । तेषु तयानुपूर्व्या विवक्षितार्थानुभावकत्वाभावात् । अत्र तु न तथेति । यथा —

> **द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।**
> **कला च सा कान्तिमती कलावतः त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥**

इत्यत्र त्वंशब्दादनन्तरं चकारो युक्तः । तदैव तस्याः समुच्चेयता स्यात् । इदमत्रावधेयम् — अर्द्धान्तरैकवाचकं यत्र द्वितीयार्धगतैकवाचकशेषं प्रथमार्द्धम्, तत् । तथा सङ्कीर्णं यत्र वाक्यान्तरे वाक्यान्तरमनुप्रविशति तत् । तथा गर्भितं वाक्यस्य मध्ये वाक्यमनुप्रविशति तत् । तथाऽक्रमं यत्र यदुत्तरं यत्पदोपादानं युक्तं तदन्यत्र तदुपादानं तत् । एतानि चत्वारि जीर्णैरभ्युपगतानि दूषणानि अस्मिन् अस्थानस्थ-पद एव अन्तर्भूतानि । संकीर्णस्य क्लिष्ट एवान्तर्भाव इति नवीनाः ।

अस्थानस्थसमासं यथा —

> **अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि**
> **स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः ।**
> **प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणात्**
> **फुल्लत्कैरवकोश [पृ० २५. २.] निस्सरदलिश्रेणीकृपाणं शशी ॥**

असौ शशी चन्द्रः, तत्क्षणे तत्काले, उत्फुल्लद्विकसमानं यत् कैरवं कुमुदं तस्य कोशो मध्यभागस्तस्मान्निःसरन्ती बहिर्यान्ती अलिश्रेणी भ्रमरपङ्क्तिरेव कृपाणी खड्गस्तां कर्षति आकर्षति । कीदृशः शशीत्याह — सीमन्तिनीनां कामिनीनां हृदि वक्षसि अद्यापि स्थातुं एष

मानः वाञ्छति । धिग् इति क्रोधादिव आलोहितः आरक्तः । पुनः कीदृशः ?—प्रोद्वृद्धीप्यमानः दूरतरं प्रसारितो विस्तीर्णः करो हस्तो येन इत्यर्थः । अत्र क्रुद्धस्योक्तौ समासो न कृतः, कवेरुक्तौ तु कृतः ।

अर्द्धान्तरैकवाचकं द्वितीयार्द्धगतैकशेषं प्रथमार्द्धम् । यथा—

मसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा
विरचय सिचयान्तं मूर्ध्नि घर्मः कठोरः ।
तदिति जनकपुत्री लोचनैरश्रुपूर्णैः
पथि पथिकवधूभिः शिक्षिता वीक्षिता च ॥

भूः सदर्भा, तत् तस्मात्, लघु चरणप्रक्षेपं यथा स्यात् तथा गम्यताम् । घर्मः आतपः कठोरः, तस्मान्मूर्ध्नि मस्तके सिचयान्तं उत्तरीयान्तं वितरत(विरचय ?) देहि । इत्यनेन प्रकारेण पथि मार्गे पथिकवधूभिः पथिकस्त्रीभिः जनकपुत्री सीता शिक्षिता उपदेशं प्रापिता; अश्रुपूर्णैर्लोचनैर्वीक्षिता अवलोकिता चेत्यर्थः । अत्र भूः सदर्भा तन्मसृणचरणपातं गम्यतामिति अन्वये अनासत्तिरेव दूषकताबीजम् ।

अभवन्मत इष्टो योगो सम्बन्धो यत्र, तत् तथा । विवक्षितसम्बन्धबोधं प्रति स्वरूपायोग्यमिति यावत् । तेन विधेयाविमर्षे(र्शे)नातिव्याप्तिः । तत्र रचनान्यथात्वेऽपि विवक्षितसम्बन्धोपपत्तेः । तत्र वैभक्तिकोऽन्वयो भवत्येव । अत्र तु सोऽपि नेति विशेषाच्च । यथा—

जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयोमञ्जुमञ्जीरभृङ्गः ।
भर्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-
सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः ॥ [प॰ २६. १]

भवान्याः पार्वत्याः दण्डपादः, 'प्रसार्योर्द्ध्वीकृतः पादो दण्डपादोऽभिधीयते' इत्युक्तलक्षणो जयति । कीदृशः ? जङ्घाकाण्ड एव उरुः अतिशयितो नालो यत्र, नखकिरणरूपा लसन्ती केसराणां आली परम्परा तया करालो दन्तुरः, प्रत्यग्रं नूतनं यदलक्तकं तस्य आभा कान्तिस्तस्य प्रसरो विस्तारः स एव किसलयो यत्र, मञ्जु मनोहरं यन्मञ्जीरं तदेव भृङ्गो यत्र, भर्तुर्महेश्वरस्य यत् नृत्तं तस्यानुकरणे । पुनः कीदृशः ? निजा स्वकीया या तनुः पार्वतीशरीरं तदेव या स्वच्छा निर्मला लावण्यवापी सौन्दर्यदीर्घिका ततः संभूतं यदम्भोजं कमलं तस्य शोभां सौन्दर्यं दधत् । अभिनवो नूतनः इत्यर्थः । अत्र दण्डपादगता निजतनुः प्रतीयते भवानीसम्बन्धिनी तु विवक्षिता निजस्वात्मादिशब्दानां प्रधानक्रियान्वितान्वयित्वव्युत्पत्तेः । इदं न ज्यायः । काव्याकाव्यसाधारणस्यास्य काव्ये विशिष्योत्कीर्त्तनस्यान्याय्यत्वात् ।

अनभिहितवाच्यं तत्, अवश्यवाच्यमनुक्तं यत्र ।

त्वयि निबद्धरतेः प्रियवादिनः प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसः ।
कमपराधलवं मम पश्यसि त्यजसि मानिनि ! दासजनं यतः ॥

इदमपि न साधु। न्यूनपद एवास्यान्तर्भावात्। न च न्यूनपदं पदघटितम्, अनभिहितवाच्यं तु द्योतकशब्दघटितमिति अनयोर्भेदो वक्तव्य इति वाच्यम्। यत एतादृशि यत्किञ्चिद्-भेदकल्पने दोषाणामानन्त्यं स्यात्।

गर्भितं यत्र वाक्यान्तरमध्ये वाक्यान्तरमनुप्रविशति –

परापवादनिरतैर्दुर्जनैः सह सङ्गतिः।
वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कदाचन ॥

अत्र तृतीयपादो वाक्यान्तरमध्ये प्रविष्टः। अयं न पृथक्, अस्थानस्थ एवान्तर्भावात्।

प्रसिद्धिपरिहीनं प्रसिद्धादन्यत्र प्रयुक्तम्। प्रसिद्धिपरिहीनं यथा –

महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्तक-
प्रचण्डघनगर्जितप्रतिरवा(रुता)नुकारी मुहुः।
रवः श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकन्दरः [५० २६. २]
कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्वः पुरः ॥

अद्य समरोदधेः सङ्ग्रामसमुद्रात् पुरः अग्रप्रदेशे रवः शब्दः मुहुर्वारं वारं कुतो हेतोर्वर्तत इति शेषः। कीदृशः? महाप्रलयाय यो मारुतः पवनः स महाप्रलयमारुतः, तेन क्षुभितः इतस्ततः प्रेरितः, पुष्करावर्तकः पुष्करावर्तसञ्ज्ञकः प्रचण्डः प्रौढो यो घनो मेघस्तस्य यद् गर्जितं शब्दविशेषस्तस्य यत् प्रतिरुतं प्रतिध्वनिस्तदनुकारी तत्सदृशः। श्रवणयोः श्रोत्रयोर्भैरवः कटुः। स्थगितः पूर्णः रोदसी द्यावाभूम्योरन्तरं मध्यं तदेव कन्दरा येन सः। अभूत-पूर्वः पूर्वं अजात इत्यर्थः। अत्र रवो मण्डूकादिध्वनिषु प्रसिद्धः। न तूक्तरूपे सिंहनादे।

भग्नः प्रक्रमः प्रस्तावो यत्र। यथा –

नाथे निशाया नियतेर्नियोगादस्तं गते हन्त निशापि याता।
कुलाङ्गनानां हि दशानुरूपं नातःपरं भद्रतरं समस्ति ॥

अत्र गतेति प्रक्रान्ते यातेति कृते प्रक्रमो भग्नः। गता निशापीति तु युक्तम्। ननु कथितपदस्य दुष्टत्वाभिधानात् कथमेकस्य पदस्य द्विःप्रयोग इति चेद्, उच्यते – उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्यव्यतिरिक्त एव विषये एकप्रयोगस्य निषेधात्। प्रत्युत तादृशि विषये तस्यैव पदस्य सर्वनाम्नो वा प्रयोगं विना दोषः। तथा हि –

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।
संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥

अत्र रक्त एवेति यदि क्रियते तदा पदान्तरप्रतिपादितः स एवार्थः अर्थान्तरतयेव भासमानो नैकरूप्यमावहति। ननु पर्यायशब्दानां शक्यतावच्छेदकैक्यनियमात् कथमन्यत्वेन प्रतीतिरिति चेत्, उच्यते – यन्मते शाब्दबोधे शब्दो भासते तन्मते रक्तादि-शब्दान्तरस्य भानात् ऐकरूप्यासंभवात्, इदमपि न। शाब्दबोधे शब्दभाननैयत्याभावादिति

चेन्न । अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इति शब्दस्य शक्तिग्रहविषयत्वेन विशेषणपदार्थवत् पदस्याप्युप[पृ० २७. १]स्थितिः । पदान्तरोपादाने च तदुपस्थित्या प्रतीत्यन्यथात्वं स्फुटमेव । तदुक्तम्—

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र शब्दो न भासते ॥" इति ।

भग्नप्रक्रमोऽपि न पृथक्, एतस्यानुचितार्थ एवान्तर्भावात् ।

अक्रमः—न विद्यमानः क्रमो यत्र । यदुत्तरं यत्पदोपादानं युक्तं तदुत्तरं न तत्पदोपादानमित्यर्थः ।

द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावतः त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥

इत्यत्र त्वंशब्दादनन्तरं चकारो युक्तस्तदैव तस्याः समुच्चेयता प्रतीतिः । अयमपि न पृथक्, अपदस्थपदमध्येऽन्तर्भावात् ।

अमतः—प्रकृतविरुद्धः परार्थो यत्र, प्रकृतरसविरुद्धरसव्यञ्जकत्वमित्यर्थः । रसविरोधस्तु—

ज्ञेयौ शृङ्गार-बीभत्सौ तथा वीर-भयानकौ ।
रौद्राद्भुतौ तथा हास्य-करुणौ वैरिणौ मिथः ॥ इति ।

उदा०—

राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥

सा निशाचरी ताडका जीवितेशस्य यमस्य, पक्षे प्रियतमस्य, वसतिं गृहं जगाम गतवती । कीदृशी ? रामो दाशरथिः स एव यो मन्मथो मनोमथनः, पक्षे कन्दर्पः, तस्य शरेण बाणेन, हृदये वक्षसि ताडिता कृतप्रहारा । दुःसहेन तीव्रेण, गन्धवद् गन्धयुक्तं यद् रुधिरचन्दनम्, रुधिरं रक्तमेव चन्दनम्, पक्षे रक्तचन्दनम्, तेनोक्षिता सिक्ता । रामशरसम्बन्धेन पापक्षयाच्च रुधिरस्य गन्धवत्त्वमिति भावः । अत्र प्रकृतो बीभत्सो रसः । तद्विरुद्धस्य शृङ्गारस्य व्यञ्जकोऽपरोऽर्थः । रूपकताबीजं तु शृङ्गाररसव्यञ्जकैर्यदि बीभत्सः प्रत्यायनीयः स्यात्, तदा कथं तस्य परिपुष्टिरिति ध्येयम् । एतस्यानुचितार्थता व्यक्तैवेति अनुचितार्थ एवान्तर्भावः ।

अथार्थदोषानाह—

अर्थोऽपुष्टः कष्टो व्याहतपुनरुक्तदुष्क्रमग्राम्याः ॥ (मू० का० ५५, उ०)
सन्दिग्धो निर्हेतुः प्रसिद्धिविद्याविरु[पृ० २७. २]द्धश्च ।
अनवीकृतः सनियमानियमविशेषोऽविशेषपरिवृत्ताः ॥ (मू० का० ५६)
साकाङ्क्षोऽपदमुक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरुद्धः ।
विध्यनुवादायुक्तस्त्यक्तपुनः स्वीकृतोऽश्लीलः ॥ (मू० का० ५७)

इत्येते प्राचीनैरर्थदोषाः कथितास्ते उक्तेषु शब्ददोषेष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक् प्रतिपादिताह्यीः।

तथा हि—पुष्टं पोषणमुत्कर्षः, पश्चात्तञा समासः। तथा च प्रकृतवाक्ये[1] उद्देश्योत्कर्षाहेतुरूपस्यापुष्टार्थस्य। एवं पुनरुक्तस्य च अधिकपदे निरर्थके वान्तर्भावः। तथा कष्टस्य क्लिष्टेऽन्तर्भावः। एवं स्तुत्वा[2] निन्दित्वा वा पुनरन्यथाकृतरूपस्य व्याहतस्य, तथा दुष्क्रम[3]ग्राम्यप्रसिद्धिविद्याविरुद्धापदमुक्ताश्लीलानाम्[4]। एवं एकसमभिव्याहारनिर्दिष्टोत्तममध्यमाधमरूपस्य सहचरभिन्नस्य, तथा विधेयविरोध्यनुवादरूपस्यानुवादायुक्तस्य, तथा प्रकाशितविरुद्धस्यानुचितार्थे एवान्तर्भावः। तथा सन्दिग्धस्य सन्दिग्ध एवान्तर्भावः। एवमेकभङ्गिनिर्दिष्टानेकार्थरूपमनवीकृतत्वमपि न दोषः, किन्तु गुणाभावः। उक्तिवैचित्र्यात्मकमाधुर्यस्य नवीकृतत्वरूपगुणस्य वस्तुत्वाभावात्। तस्योऽनवीकृते गुणाभावादेव रसापकर्षकत्वम्। एवं निर्हेतुनियमपरिवृत्तविशेषपरिवृत्तसाकाङ्क्षाणां न्यूनपद एवान्तर्भावः। तथाऽनियमपरिवृत्तस्याधिकपदे, तथा विध्ययुक्तस्य विधेयाविमर्षे(र्शे), तथा त्यक्तपुनःस्वीकृतस्य समासपुनरावृत्तेऽन्तर्भावः। नन्वेवमपि अधिकपदादीनां निरर्थकेऽन्तर्भावः स्यात्, इति चेद्, भवतु नाम का नो हानिः। उक्तमेव प्राग्—यद् वाच्यावचनं अवाच्यवचनमेव दोषद्वयम्, अन्यत् सर्वं तयोः प्रपञ्च इति।

अथ प्राचीनोक्तापुष्टादीनां उदाहरणानि लिख्यन्ते। अत्रापुष्टः पुष्टिभिन्नः। पुष्टत्वं च विवक्षितार्थबाधहेत्वनुपादानकत्वम्। तद्विरहश्चाप्रयोजकत्वात् प्रयोजकेऽर्थलभ्यत्वात्। वृत्तिकृताऽपि [पृ० २८. १] अतिविततत्वादयोऽनुपादानेऽपि प्रतीयमानमर्थं न बाधन्त इत्युक्तम्, न त्वप्रयोजका एवेति।

अतिविततगगनसरणिप्रसरणपरिमुक्तविश्रमानन्दः।
मरुदुल्लासितसौरभकमलाकरहासकृद् रविर्जयति ॥

रविर्भगवान् भास्करो जयति। कीदृशः? अतिविततं अतिविस्तीर्णं यद् गगनमाकाशं तत्र या सरणिर्वर्त्म तत्र यत्प्रसरणं सञ्चरणं तेन परिमुक्तः परित्यक्तो विश्रमानन्दो विश्रामसुखं येनेत्यर्थः। मरुता वायुना उल्लासितमभिव्यक्तं सौरभं यस्य तादृशं यत् कमलं तस्यावलिः समूहः तस्या हासकृत् विकासकर्तेत्यर्थः। अत्रातिविततत्वादयोऽर्था अपुष्टाः। नन्विदमधिकपदत्वं पुनरुक्तत्वं वा स्यात् इति चेत्, उच्यते—नायमधिकः। तत्त्वं च अन्वयाप्रतियोगित्वात् भवति। प्रकृते तदभावात्। शब्दोपस्थिते पुनः शब्दानुपादानान्न पुनरुक्तः। अर्थपुनरुक्तिश्चापुष्टार्थ एवेतिभावः। केचित् तु—पोषणं पुष्टमुपकारः पश्चात्तञा बहुव्रीहिः। प्रकृतवाक्यार्थोत्कर्षाहेतुरपुष्टः। अतिविततेति—अत्र हि रविर्जयतीति रवेरुत्कर्षः प्रधानवाक्यार्थः।

---

१ प्रकृतवाक्ये उद्देश्यो यः उत्कर्षस्तस्य यः अहेतुः अर्थः स अपुष्टार्थः। २ स्तुत्वा निन्दित्वा वा पुनरन्यथाकरणं व्याहतत्वम्। ३ अयुक्तः क्रमो दुःक्रम इत्यर्थः। ४ 'प्रसिद्धिविरुद्धा विद्याविरुद्धश्चेति द्वयम्।' मूलादर्शे एताः सर्वाः टिप्पण्यः।

न खलु विस्तीर्णपथसञ्चरणं श्रमहेतुः। येन तत्सत्त्वेऽपि श्रमत्यागे उत्कर्षहेतुः स्यात्। विततपदेन दीर्घत्वाभिधानेऽपि रथाख्ययानेन सञ्चरणान्न श्रमप्रतीतिः। एतेन अतिविततत्वादय इत्यत्र अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिणा तत् परिहृत्य मरुदुल्लासितेत्यादिग्रहणमिति केनचिद् यदुक्तं तन्निरस्तम्। तत्तद्गुणार्थस्य दर्शितत्वात्। यत्तु मरुदुल्लासितेत्यादि विरुद्धं ह्रासपूर्वं सौरभग्रहणादिति, तन्न। समकालत्वस्य विवक्षितत्वात्। अत्रान्वयबोधानन्तरं पदजीवातवनुसन्धानदशायां एषामनुपकारित्वग्रहः इति प्रतीत्याऽनुपपत्त्यार्थदोषता प्रतीत्यनुपपत्त्यैव शब्ददोषतेति विभागः।

कष्ट इत्यस्य दुरूह [पृ० १८.२] इत्यर्थः। आसत्त्यादिसत्त्वेऽपि विलम्बितप्रतीतिकत्वं तत्त्वम्।

सदा मध्ये यासामियममृतनिस्यन्दसरसा
सरस्वत्युद्दामा वहति बहुमार्गा परिमलम्।
प्रसादं ता एता घनपरिचिताः केन महतां
महाकाव्यव्योम्नि स्फुरतु(रित) मधुरा यान्तु रुचयः॥

अस्यार्थः—अमृतं सुधाजलं च, रसो माधुर्यं शृङ्गारादिश्च, सरस्वती वाणी नदी च, मार्गो रीतिः पन्था च, परिमलं चमत्कारं सुखं च, प्रसादं सुव्यक्तत्वं स्वच्छकान्तिश्च, घनो निबिडो मेघश्च, परिचिताः अत्यन्ताभ्यस्ताः सम्बद्धाश्च, रुचयः अभिसन्धयः कान्तयश्च, महतां कवीनां आदित्यानां च, तेषां च द्वादशत्वात्। अत्रार्थप्रतीतिर्विलम्बेनेति युक्तं कष्टेऽन्तर्भावः। निन्दित्वा पुरस्कृत्य वा तदन्यथाकरणविशिष्टाहतिर्व्याहतत्वं न चास्यानुचितार्थता। तत्र पशुकुविन्दादिपदैः स्वार्थोपस्थितिदशायामेवोपश्लोक्यमानस्य तिरस्कारावगमः। अत्र तु चन्द्रिकापदस्य तदर्थस्य तु अनुसन्धानादेव न तिरस्कारोऽवगम्यते, किन्तु वाक्यार्थबोधानन्तरं नवेन्दुकलादयोऽयं प्रतीत्यर्थपर्यालोचनेनेति भेदात्। यथा—

जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृतिमधुराः सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये।
मम तु यदियं जा(या)ता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः॥

जगति संसारे ते ते प्रसिद्धा भावाः पदार्थाः नवेन्दुकलादयोऽन्ये सन्त्येव वर्तन्त एव। ते के? इत्याह—ये मनोऽन्तःकरणं मदयन्ति आनन्दयन्ति। कीदृशाः? प्रकृतिमधुराः स्वभावसुन्दराः। मम तु यद् इयं मालती नयनविषयं नेत्रगोचरतां याता प्राप्ता, जन्मन्यस्मिन्, मम स एवैको महोत्सवो नान्यः। कीदृशी? विलोचनयोर्नेत्रयोश्चन्द्रिका चन्द्रज्योत्स्नेत्यर्थः। इत्यत्र नवेन्दुकलादयो यं प्रति परस्परप्रायाः स एव चन्द्रिकात्वमुत्कर्षार्थमारोपयति इति व्याहतत्वमितीदमप्यनुचितार्थः।

पुनरुक्तः शब्देनैवा[पृ० २९, १]नुगतः, पुनः शब्देनोच्यते अर्थपुनरुक्तस्यापुष्टार्थत्वात् । अत्र प्रयोजनं विनेत्यपि विशेषणं देयम् । अत एव कर्णावतंसादिषु प्रयोजनं विनेत्यभावान्न पौनरुक्त्यम् । स चायं द्विविधः पदार्थवाक्यार्थभेदात् । तत्राद्यमुदाहरति — 'कृतमनुमत'मित्यादि । अर्जुनार्जुनेति भवद्भिरिति चोक्ते, सभीमकिरीटिनामित्युक्ते किरीटिपदार्थः पुनरुक्तः । अर्जुनार्जुनसात्यके सात्यकेरुपक्रमणपितृवधामर्षितस्याश्वत्थाम्नः उक्तिरियम् । कर्तुरनुमन्तृद्रष्टॄणां उत्तरोत्तरापराधस्य लाघवेन क्रमादुपन्यासः । तत्र कर्ताऽर्जुनः, अनुमन्ता सात्यकिः, अन्ये द्रष्टारः । तत्राद्ययोर्बलवद्द्वेषेण तत्र शाब्दबुद्धिः, अन्येषां बुद्धिस्थतैव । अत एव एतेषां शास्तिप्रदर्शनाय बुद्धिस्थपरामर्श(र्शि)कयत्पदवत्कृतपदानुकर्षः । एतेन संबोध्ययोरबहुत्वे यैरित्यादिषु बहुवचनमनुपपन्नमिति निरस्तम् । सम्बोध्यानां बहुत्वस्य दर्शितत्वात् । अत्र भवद्भिरित्यत्र सम्बोध्योपस्थितिं विना भवत्पदप्रयोगानुपपत्तेः । तस्य सबोध्यात्मवाचित्वात् । किरीटिपदार्थोऽर्जुन एव । अथ चूर्णकपदाभ्यां सहैवान्वयबोधकत्वे शाब्दबोधसमय एव पौनरुक्त्यभावान्नार्थदोषतेति चेत्, न । पर्यायशब्दोपनीतेष्वर्थेषु आपाततोऽन्यत्वेन भानान्न पुनरुक्ततावभासः । समानसत्त्व एव एकत्वभानादित्युक्तत्वात् । वस्तुतो नैष साधीयान् दोषः । तथा हि — क्रुद्धस्य उक्तावनुक्तविस्मरणद्वारा क्रोधप्रज्वलनया पौनरुक्त्यस्य गुणत्वात् । न च सम्बोध्यविस्मृतौ भवच्छब्दप्रयोगानुपपत्तिरिति वाच्यम् । भवतेः शतृङा भवत्पदेन 'उद्यायुधैः सद्भिः' इत्यर्थस्य विवक्षणात् । यद्वा, सभीमेत्यादावेव विस्मरणात् ।

द्वितीयमाह —

> अस्त्रज्वालावलीढप्रतिबलजलधेरन्तरौर्वायमाणे
> सेनानाथे स्थितेऽस्मिन् मम पितरि गुरौ सर्वधन्वीश्वराणाम् ।
> कर्णालं संभ्रमेण व्रज कृप समरं मुञ्च हार्दिक्य ! शङ्कां [पृ० २९. २]
> ताते चापद्वितीये वहति रणधुरं को भयस्यावकाशः ॥

मम पितरि भजनके, सर्वधन्वीश्वराणां सर्ववीराणाम्, अध्यापकेऽस्मिन् प्रसिद्धे सेनानाथे स्थिते सति, हे कर्ण ! सम्भ्रमेण त्रासेन अलं व्यर्थम् । हे कृप ! समरं सङ्ग्रामं व्रज गच्छ । हे हार्दिक्य कृतवर्म्मन् ! शङ्कां त्यज । मम पितरि, कीदृशे ? अस्त्रज्वालया अवलीढं आस्वादितं यत् प्रतिबलं प्रतिपक्षसैन्यं स तदेव जलधिः समुद्रः तस्यान्तर्मध्ये और्वायमाणे वडवानलायमाने, चाप एव द्वितीयः सहायो यस्यैतादृशे ताते पितरि, रणधुरं सङ्ग्रामभारं वहति धारयति सति, भयस्य त्रासस्य कः अवकाशोऽवसरः ? इत्यर्थः । अत्र कर्णालं संभ्रमेणेत्युक्तौ को भयस्यावकाश इति चतुर्थः पादः पुनरुक्तः । अत्रापि पूर्ववद् दोषोद्धारः । अत्र न केवलं पदार्थे वाक्यार्थे वा पौनरुक्त्यम्, पदैकदेशार्थेऽपि तत्संभवात् । यथा, 'त्वदीयमातङ्गघटा' इत्यादौ युक्तार्थान्तर्गतषष्ठ्यर्थेन तद्धितार्थस्य सम्बन्धस्य पौनरुक्त्यात् ।

दुष्क्रमेति — दुष्टः अनुचितो लोकविरुद्धः शास्त्रविरुद्धो वा क्रमो यत्रेत्यर्थः । तमुदाहरति —

भूपालरत्न निर्दैन्यप्रदानप्रथितोत्सव ! ।
विश्राणय तुरङ्गं मे मातङ्गं वा मदालसम् ॥

हे भूपाल पृथिवीपाल ! रणे सङ्ग्रामे (?), निर्गतं दूरीभूतं दैन्यं यस्य स तथा । प्रदानेन प्रकृष्टवितरणेन प्रथितो विस्तीर्णः उत्सवः आनन्दो यस्य स तथा । तस्य सम्बोधनं हे ! मे मह्यं तुरङ्गं अश्वं मदेनालसं मन्थरं मातङ्गं हस्तिनं वा विश्राणय देहीत्यर्थः । अत्र मातङ्गस्य बहुमौल्यत्वेन प्राङ्निर्देशः उचितः—इतीदमप्यनुचितार्थ[म्] । यत्र हस्तीनामेव सुलभत्वं तत्र नेदमुदाहरणमिति मन्तव्यम् ।

ग्राम्यो ग्रामसंभवोऽविदग्धोक्तिप्रतिपन्नः स्वरिरंसादिः । तदुक्तम्—

स ग्राम्यः स्वरिरंसादिः पामरैर्यत्र कथ्यते ।
वैदग्ध्यवक्रिमबलं हित्वैव वनितादिषु ॥

यथा—

स्वपिति यावदयं निकटे जनः, स्वपिमि तावदहं किमपैति ते ।
तदयि ! साम्प्रतमाहर कूर्परं, त्वरितमूरु [प० ३०, १] मुदञ्चय कुञ्चितम् ॥

अयं जनो निकटे संनिधाने यावत् स्वपिति निद्राति तावदहमपि स्वपिमि निद्रामि । ते तव किं अपैति गच्छति । तत् तस्मात्, अयीति स्त्रीसम्बोधनम्, कूर्परं कफोणिं आहर संकोचय । साम्प्रतं इदानीं कुञ्चितं वक्रं ऊरुं उदञ्चय ऋजुतां नय । त्वरितं शीघ्रमित्यर्थः । कूर्परः कफोणिः । अत्र रसविच्छेदः सहृदयहृदयनैरस्यं वा दूषकताबीजम् । अत्रार्थस्यैव ग्राम्यता न शब्दस्य प्रकरणाद्यभावात् । इदमप्यनुचितार्थम् ।

सन्दिह्यमानोऽर्थः सन्दिग्धः । 'मात्सर्यमुत्सार्य'त्यादि । अत्र प्रकरणाद्यभावे संदेहः, वक्तुः प्रशान्तत्वे शृङ्गारित्वे वा निश्चिते निश्चय एव ।

अनुपात्तहेतुकोऽर्थो निर्हेतुः ।

गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि[1]
प्रभावाद् यस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः ।
परित्यक्तं तेन त्वमसि सुतशोकान्न तु भयात्
विमोक्ष्ये शस्त्र ! त्वामहमपि यतः स्वस्ति भवते ॥

येन द्रोणेन गृहीतं स्वीकृतं आसीः, परिभवभयान्नोज्झितमसि न त्यक्तमसि[2] । यस्य द्रोणस्य प्रभावात् प्रतापात्, तव कश्चिन्न विषयोऽभूदिति न, अपि तु सर्वोऽपि त्वद्विषयो जात इत्यर्थः । द्रोणेन त्वं सुतशोकान्मरणजनितविक्लवात् परित्यक्तमसि, न तु भयात् त्रासात् ।

---

१ 'कश्चिन्नोज्झितमसी'त्यपि पाठो दृश्यते । २ 'अनुचितमपि ब्राह्मणानां शस्त्रग्रहणानधिकाराद् इत्यर्थः ।' इति टिप्पणी ।

हे शस्त्र! त्वां भवन्तं अहमपि विमोक्ष्ये त्यजामि। यतोऽतो भवते स्वस्ति कल्याणमस्त्वित्यर्थः। अत्र द्वितीयशस्त्रमोचने हेतुर्नोपात्तः। ननु हेत्वाकाङ्क्षायां वाक्यपर्यवसाने कथमयमर्थदोषः? इति चेत्, न। पितृकर्तृकशस्त्रत्यागस्य हेतुत्वेनैवान्वयात् पितृकृतकर्मणः पुत्रेणाचरणीयत्वात् ब्राह्मणानुचितशस्त्रग्रहणस्येव। इत्थमपर्यवसिते वाक्यार्थेऽनन्तरं मम पित्रा मम शोकेन परित्यक्ते मयाऽपि पितृशोकेन त्यक्तव्यमिति पितृशोकस्य हेतुत्वमाकांक्षितं तदनुपादाने निर्हेतुत्वम्। एतस्य न्यूनपद एवान्तर्भावः।

प्रसिद्धिविरुद्धं तत् यथाप्रसिद्धं तद्वि[पृ. ३०.२]रुद्धमित्यर्थः। उदाहरणं तु पूर्वमेव प्रसिद्धिपरिहीने दत्तं "महाप्रलय" इत्यादि तदेव मन्तव्यम्। अत्र रवः सिंहनादादेरनुचितः। इदमप्यनुचितार्थम्।

विद्या शास्त्रम्, तद्विरुद्धं यथा—

सदा स्नात्वा निशीथिन्यां सकलं वासरं बुधः।
नानाविधानि शास्त्राणि व्याचष्टे च शृणोति च॥

अत्र ग्रहोपरागादिकं विना रात्रौ स्नानं धर्मशास्त्रे निषिद्धमितीदमप्यनुचितार्थम्।

भङ्ग्यन्तरेण यन्नवत्वं न भाषितं एकभङ्गीनिर्दिष्टानेकार्थत्वमिति यावत्, तदनवीकृतत्वम्। अनवीकृतत्वमुदाहरति—

प्राप्ताः श्रियः कामदुघास्ततः किं दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्।
सन्तर्पिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम्॥

श्रियो धनरूपाः प्राप्तास्ततस्तावता किम्? न किमपीत्यर्थः। श्रियः कीदृश्यः? सकलकामदुघाः समस्तेच्छाविषयदाव्यः। विद्विषां शत्रूणां शिरसि मस्तके पदं चरणरूपं दत्तं स्थापितं ततः किम्? तावता न किमपीत्यर्थः। एवमग्रेऽपि योज्यम्। अत्र ततः किमिति न नवीकृतम्। ततः किमित्यतो भङ्ग्यन्तराभावात्। अयमपि गुणाभाव एव, न दोषः। न चात्र कथितपदत्वमेवेति वाच्यम्। पर्यायान्तरप्रयोगेऽपि भङ्ग्यैकरूपतायामसाङ्कर्यात्। न च तथाप्यनेन कथितपदत्वान्यथासिद्धिरिति वाच्यम्। सत्यप्यर्थभेदतात्पर्ये पदैकरूप्यदोषादर्थैक्यप्रतिपादकस्य कथितपदस्य दोषकताबीजस्य भेदात्। पिष्टपेषणन्यायेनाशक्तिसूचनेन सहृदयोद्वेगो दूषकताबीजम्।

नियमादिभिश्चतुर्भिः परिवृत्तपदान्वयात् नियमपरिवृत्तादिचतुष्टयं लभ्यते। तैश्चतुर्भिः सहितः अनवीकृतः इति सनियमानियमविशेषाविशेषपरिवृत्तः। यद्वा नियमसहितो नियमादिस्तत्परिवृत्त इत्यर्थः। यद्वा नियमानियमाभ्यां सहितौ विशेषाविशेषौ तत्परिवृत्त इति। केचित् तु सनियमपरिवृत्त एव दोषः। तत्र सनियमपरिवृत्तः—सनियम[पृ. ३१.१]त्वेन वाच्यः अनियमत्वेनोच्यते इत्यर्थमाहुः। नियमपरिवृत्तो दुष्ट इति मते तु नियमस्य शब्दादप्रतिपत्तिः[1]-नियमपरिवृत्तः। यथा—

---

[1] 'अप्रतिपत्तिः अज्ञानम्।' टि०।

यत्रानुल्लिखितार्थमेव लिखितं निर्माणमेतद् विधे-
रुत्कर्षप्रतियोगिकल्पनमपि न्यक्कारकोटिः परा ।
याताः प्राणभृतां मनोरथगतीरुल्लङ्घ्य यत्सम्पद-
स्तस्याभासमणीकृताश्मसु मणेरश्मत्वमेवोचितम् ॥

यत्र यस्मिन् मणौ विधातुरेतन्निर्माणमुत्पादनं अनिर्वचनीयप्रयोजनमेव लिखितम् । एतस्मात्परमपि न इति प्रशंसाऽपि यत्र निषिध्यते । यस्य सम्पदः प्राणिनां मनोरथगोचरापि न छायामात्रमणीकृताश्मसु आभासमात्रेण । अमणय एव मणीकृता ये अश्मानो दृषदस्तेषु तस्य मणेरश्मत्वमेवोचितं इति नियमत्वं वाच्यम् । तथाकृते गुणान्तरव्यवच्छेदेन निन्दातिशयप्रतीतेः । प्राकृतमणिगणनायां चिन्तामणिगणनमनुचितमित्यर्थः । एतस्य न्यूनपद एवान्तर्भावः ।

अविवक्षितनियमस्य शब्देन प्रतिपादनमनियमपरिवृत्तः । यथा —

वक्त्राम्भोजे सरस्वत्यधिवसति सदा शोण एवाधरस्ते
बाहुः काकुत्स्थवीर्यस्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः ।
वाहिन्यः पार्श्वमेताः क्षणमपि भवतो नैव मुञ्चत्यभीक्ष्णं
स्वच्छेऽन्तर्मानसेऽस्मिन् कथमवनिपते ! तेऽम्बुपानाभिलाषः ॥

अस्यार्थः—सरस्वती भारती, नदीभेदश्च । शोणो रक्तो नदश्च । सादृश्यात् सेतुबन्धे दर्शनाच्च काकुत्स्थवीर्यस्मरणम् । दक्षिणः सव्येतरः, दिग्विशेषश्च । समुद्रो मुद्रां अङ्गुलीयकं तत्सहितः, जलनिधिश्च । वाहिन्यः सेनाः, नद्यश्च । मानसे मनसि, सरसि च । अत्र शोण एवेति नियमो न वाच्यः । पिपासोर्नद्यन्तरव्यवच्छेदस्याविवक्षितत्वात् । ननु अस्याधिकपद एवान्तर्भाव इति चेत् न । यत्र सोऽर्थः तद्व्यतिरेकेणापि प्राप्यते तत्राधिकपदत्वम् । यत्र तेन न प्राप्यते किन्त्वन्येन अविवक्षितश्च भवति तत्रायम् । वस्तुतस्तु अतिरिक्ते प्रमाणाभावादधिकपदस्यैव भेदः ।

प्राप्तस्य [प. २१.२] विशेषस्य पुनरापादनं विशेषपरिवृत्तः । यथा —

श्यामां श्यामलिमानमानयत भोः सान्द्रैर्मषीकूर्चकैः
तन्त्रं मन्त्रमथ प्रयुज्य हरत श्वेतोत्पलानां श्रियम् ।
चन्द्रं चूर्णयत क्षणाच्च कणशः कृत्वा शिलापट्टके
येन द्रष्टुमहं क्षमे दश दिशस्तद्वक्त्रमुद्राङ्किताः ॥

श्यामां अन्धकारिणीं रात्रिं श्यामलिमानं श्यामतां आनयत संपादयत । भोरिति सम्बोधने । कैरित्याह—सान्द्रैर्निबिडैर्मषीकूर्चकैः मषीक्षोदैः । मषीयुक्तं कूर्चकं चित्रफललेखिनी । मन्त्रमागमादिशास्त्रोक्तम् । तन्त्रं शास्त्रं वैद्यकादि । तदुक्तप्रयोगस्तदुक्तभेषजादिकरणम् । तत् कृत्वा श्वेतोत्पलानां श्वेतकमलानां श्रियं कान्तिं हरत । शिलापट्टके पाषाणपट्टकोपरि

कृत्वा चन्द्रं चन्द्रमसं कणशः चूर्णयन्, येनाहं दश दिशः दिग्दशकं द्रष्टुमवलोकयितुं क्षमे शक्नोमि। कीदृश्यो दश दिशः? तद्वक्त्रमेव मुद्राचिह्नं तयाऽङ्किताश्चिह्निता इत्यर्थः। श्यामापदोपादाने कृते योग-रूढिभ्यां श्यामत्वं प्राप्तमेव। तत्र श्यामलिमाऽऽपादनं व्यर्थम्। अत्र ज्योत्स्नामिति श्यामाविशेषो वाच्यः। एतस्य न्यूनपद एवान्तर्भावः। यत्र यो विशेषो न युक्तः तत्र तस्योक्तिर्वक्तव्यस्यानुक्तिः। अविशेषपरिवृत्तः, यथा—

> कल्लोलवेल्लितदृषत्परुषप्रहारै रत्नान्यमूनि मकरालय माऽवमंस्थाः।
> किं कौस्तुभेन विहितो भवतो न नाम याच्ञाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि॥

अत्र 'एकेन किं न विहितो भवतो न (भवतः स?) नाम' इति वाच्यम्। यतो येषामेकेनोपकृतं तदितरेष्वनादरोऽयुक्तः।

विशेषस्योपकारित्वे सामान्येषु कथमादरः? इति प्रतीतिमान्थर्यम्। अस्यापि न्यूनपद एवान्तर्भावः।

अनुपात्तार्थाकाङ्क्षाविषयत्वं साकाङ्क्षत्वम्। यथा—

> अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभोः प्रत्युत
> द्रुह्यन् दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यया।
> उत्कर्षं च परस्य मानयशसोर्विस्रं(स्रं)सनं चात्मनः
> स्त्रीरत्नं च जगत्पतिर्दशमुखो देवः [प. १२. १.] कथं मृष्यति॥

रावणदूतस्य एतद्वचनम्—प्रभोः रावणस्य अर्थित्वे याचकत्वे प्रकटीकृतेऽपि व्यक्तीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः न सीतालाभः। न केवलफलाप्राप्तिः अपि तु शत्रोस्तत्प्राप्तिरित्याह—प्रत्युत दाशरथिः रामः द्रुह्यन् रावणद्रोहं कुर्वन् तया सीतया युक्तो मिलितः। विरुद्धचरितो रावणेन समं विरुद्धं चरितं चरित्रं यस्य सः। परस्य रामस्य, उत्कर्षः आधिक्यं, आत्मनः स्वस्य, मान-यशसोरभिमान-कीर्त्योर्विस्रं(स्रं)सनं निराकरणम्, स्त्रीरत्नं च सीतारूपम्, दशमुखो रावणः, जगत्पतिः पृथिवीपतिः, कथं मृष्यति न मृष्यतीत्यर्थः। अत्र स्त्रीरत्नमिदं(मि)त्युपेक्षितुमाकाङ्क्षति अन्यस्त्रीरत्नमिति कथं मृष्यतीत्यनन्वितं स्यात्। तथा हि कथं न मृष्यतीत्यस्य कथं न द्वेष्टीत्यर्थः स्यात्। मृषधातोर्द्वेषार्थत्वात्। तथा च स्त्रीरत्नस्य द्वेषायोग्यत्वे कथं कथमित्यादिना अन्वयः। ततश्च न्यूनपद एव साकाङ्क्षत्वस्यान्तर्भावः समुचितः।

अपदयुक्तत्वं अस्थानसमाप्यत्वम्, यथा—

> आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी शास्त्राणि चक्षुर्नवं
> भक्तिर्भूतपतौ पिनाकिनि पदं लङ्केति दिव्या पुरी।
> उत्पत्तिर्द्रुहिणान्वये च तदहो नेदृग् वरो लभ्यते
> स्याच्चेदेष न रावणः क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः॥

---

१ 'श्यामामित्यत्र ज्योत्स्नीमिति विशेषं विहाय श्यामामिति सामान्यमात्रोक्तमिति विशेषपरिवृत्त इत्यर्थः। २ यत्र सामान्यं विहाय विशेषणोक्तिः। ३ मा अवज्ञां कुरुथाः। ४ द्वेषोः। ५ शक्रशिखामणावेव सदा तिष्ठतीति भावः।' इति टि०।

यस्य वरस्याज्ञा नियोगरूपा शक्रस्येन्द्रस्य शिखायां मस्तके यो मणी रत्नं तत्र प्रणयिनी प्रीतियुक्ता। इन्द्रेणापि यदाज्ञा मस्तकेन ध्रियत इत्यर्थः। शास्त्राण्येव यस्य नवं नूतनं चक्षुः नेत्रम्। भूतानां प्राणिनां पतौ पिनाकिनि पिनाकधनुर्द्धरे परमकारुणिके भगवति भवानीपरिवृढे भक्तिः। लङ्का इति दिव्या देवयोग्या पुरी नगरी सैव यस्य पदं स्थानम्। द्रुहिणस्य वंशे यस्योत्पत्तिर्जन्म। एष चेद् रावणो न स्यात् तदा ईदृग् वरो न लभ्यते। स्पष्टं शेषम्। अत्र स्याच्चेदेष इत्येतावतैव समाप्यम्। तथा हि—अत्र [७. १२.२] रावणं प्रत्युपेक्षावाक्यार्थः स्याच्चेदेष न रावणः इत्यन्तेनैव प्राप्तः। क्व नु पुनः इत्यादिना समर्थनं नाकाङ्क्षतीति इदमप्यनुचितार्थम्। केचित् तु प्रकृतार्थविरुद्धार्थकपदशालित्वं अपदयुक्तत्वं तेन अपदयुक्तत्वमेव पाठ इत्याहुः।

समभिव्याहृतविजातीयार्थत्वं सहचरभिन्नत्वम्, यथा—

श्रुतेन बुद्धिर्व्यसनेन मूर्खता मदेन नारी सलिलेन निम्नगा।
निशा शशाङ्केन धृतिः समाधिना नयेन चालंक्रियते नरेन्द्रता॥

अत्र श्रुतबुद्ध्यादिभिरुत्कृष्टैः सहचरैः व्यसनमूर्खतयोर्भिन्नत्वम्। इदमप्यनुचितार्थम्। प्रतिपादितविवक्षितार्थविरोधिव्यञ्जकार्थत्वं प्रकाशितविरुद्धत्वम्। विरुद्धं प्रकाश्यत इति गर्भितप्रस्तावे व्याख्यातम्। यथा—

लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमिह ययैवासियष्ट्याऽरिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती।
तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद् गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद् गदितुमिव गतेत्यम्बुधिं यस्य कीर्तिः॥

रुधिराक्तशरीरया यया खड्गयष्ट्या वैरिकण्ठे लग्नं सक्तं या च हस्तिषु पतन्ती वैरिपुरुषैर्दृष्टा तद्भक्तोऽयं किञ्चिद् परसैन्यादिकं न मन्यते। वैरिकण्ठलग्ना मातङ्गेषु चाण्डालेषु च पतिता स्त्री अनेन भुज्यत इति व्यङ्ग्यम्। श्रीः समुद्रं स्वपितरं वदति—इदं तव विदितमस्तु त्वं जानीहीत्यर्थः। अहं साध्वी तेन भृत्येभ्यो दत्ताऽस्मि इति लक्ष्मीनिर्देशात् एतत्समुद्रं वक्तुमिव यस्य कीर्तिस्तं प्रति गतेत्यर्थः। अत्र विदितं तेऽस्तु इत्यनेन वेदयितव्यानुचितार्थाभिधानेन क्रोधाभिव्यक्तेः श्रीस्तस्मादपसरतीति विरुद्धं प्रकाश्यते इदमप्यनुचितार्थम्।

विध्यनुवादपदाभ्यां [अ]युक्तं पदं प्रत्येकमन्वेति तेन विध्यनुयुक्तः (विध्ययुक्तः) अनुवादायुक्तश्चेति दोषद्वयम्। अयुक्तत्वं न तु विधेयत्वानवगम इति विधेयाविमर्शतो भेदः। यथा—

प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशा-
मकेशवमपाण्डवं भुवनमद्य निःसोमकम्।

इयं परिसमाप्यते रणकथाऽद्य दोःशा[प० ११. १]लिना-
मपैतु रिपुकाननातिगुरुरद्य भारो भुवः ॥

अत्र शयितः प्रयत्नेन बोध्यसे इति विधेयम् । प्रबोध एव विधेयत्वविश्रान्तिरिति विधेयाविमर्शेऽन्तर्भावः । अनुवादायुक्तम्, यथा—

अरे रामाहस्ताभरण! भसलश्रेणिशरण!
स्मरक्रीडाव्रीडास(श)मन! विरहिप्राणदमन! ।
सरोहंसोत्तंस! प्रचलदल नीलोत्पल सखे!
सखेदोऽहं मोहं श्लथय कथय क्वेन्दुवदना ॥

विक्रमोर्वशीनाटकगतं पद्यमिदम् । नीलोत्पलं प्रति नाना सम्बोध्य उर्वशी केति प्रश्नः । अत्र विरहिणः पुरूरवसो मोहश्लथने विधेये विरहिप्राणदमनत्वेन अनुवादो नोचित इतीदमप्यनुचितार्थम् ।

तथा, त्यक्तपुनस्स्वीकृतः—त्यक्त उपसंहृतैकदेशः पुनः स्वीकृतः पुनः प्रकाशितैकदेशः । यथा—'लग्नं रागावृताङ्ग्या' इत्यत्र विदितं तेऽस्त्वित्यनेन यावतोऽर्थाननिवेद्याननिवेद्येव मध्ये उपसंहाराभिधानात् । तथा चात्र समाप्तपुनरात्ते चावृत्तिकरणमुत्थाप्याकाङ्क्षमेव दूष-कताबीजमित्येतयोरभेदो न्याय्यः ।

अश्लीलं यथा—

हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य चिरवैरिणः (विवरैषिणः) ।
यथाऽऽशु जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः ॥

अत्र पुंव्यञ्जनस्यापि प्रतीतिरिदमप्यनुचितार्थम् ।

अथेदानीं एते दोषाः क्वचिददोषा इत्याह—

कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः । (मू० का० ५८)
सन्निधानादिबोधार्थम्,

यथा—

तस्याः कर्णावतंसेन जितं सर्वविभूषणम् ।
तथैव शोभतेऽत्यन्तमस्याः श्रवणकुण्डलम् ॥

अवतंसः कर्णाभरणमुच्यते । तत्र कर्णादिशब्दाः कर्णादिस्थितिप्रतिपत्तये तेन वर्णनीयोत्कर्षः प्रतीयते । स्वतो न भूषणान्तरजेतृत्वम्, अपि तु तत्कर्णसम्बन्धादिनेति पर्यवसानात् । अत्रावस्थितिप्रयोजनहेतुत्वान्न पुनरुक्तत्वम् । एवमन्यत्रापि

स्थितेष्वेतत् समर्थनम् ॥ (मू० का० ५८, च० च०)

न खलु कर्णावतंसादिपदवत् जघनकाञ्चीत्यादि क्रियते ।

ख्यातेऽर्थे निर्हेतोरदुष्टता, (मू० का० ५९, प्र० च०)

यथा —

चन्द्रं गता पद्म[पृ० ३३. २]गुणान् न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम् ।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥

लक्ष्मीः शोभा चन्द्रं चन्द्रमण्डलं गता प्राप्ता सती पद्मगुणान् कमलगुणान् सौरभादीन् न भुङ्क्ते न प्राप्नोति । रात्रौ कमलप्रकाशाभावात् पद्माश्रिता कमलाश्रिता चान्द्रमसीं चन्द्रसम्बन्धिनीं अभिख्यां शोभां न भुङ्क्ते । उमामुखं प्रतिपद्य प्राप्य द्विसंश्रयां पद्मचन्द्रोभयाश्रयां प्रीतिं अवाप प्राप्तवतीत्यर्थः । अत्र रात्रौ पद्मस्य सङ्कोचो दिवा चन्द्रस्य निष्प्रभत्वं लोकप्रसिद्धमिति न भुङ्क्ते इति हेतुं नापेक्षते ।

अनुकरणे तु सर्वेषाम् । (मू० का० ५९, द्वि० च०)

श्रुतिकटुप्रभृतीनां दोषाणामदोषता । यथा —

मृगचक्षुषमद्राक्षमित्यादि कथयत्ययम् ।
पश्यैष च गवित्याह सुत्रामाणं यजेति च ॥

अयं जनः मृगचक्षुषं हरिणनयनं अद्राक्षम्-दृष्टवानस्मि इत्यादि कथयति वदति इति श्रुतिकटु । एष जनं गविति गो इति शब्दः आह वदतीति पश्यावलोकय इति च्युतसंस्कृत्युदाहरणम् । सुत्रामाणं इन्द्रं जयेति (यजेति) च आहेत्यनुषज्यते । अप्रयुक्तमिदम् ।

वक्त्राद्यौचित्यवशाद् दोषोऽपि गुणः क्वचित् क्वचिन्नोभौ ॥
(मू० का० ५९, उ०)

वैयाकरणप्रतिपाद्ये वक्तरि वा वीरादौ रसे च कष्टत्वं गुणः । क्रमेणोदा० —

दीधीङ्वेवीङ्समः कश्चिद् गुण-वृद्ध्योरभाजनम् ।
क्विप्प्रत्ययनिभः कश्चित् यत्र संनिहिते न ते ॥

अत्र वैयाकरणो वक्ता, अतो अतिशयेन वैयाकरणप्रतीतेर्गुणत्वम् ।

यदा त्वामहमद्राक्षं पदविद्याविशारदम् ।
उपाध्यायं तदाऽस्मार्षं समस्प्राक्षं च पाप(संम ?)दम् ॥

अत्र वैयाकरणे प्रतिपाद्ये कष्टत्वं गुणः । तेन तस्य प्रतीत्यतिशयात् ।

रौद्ररसे यथा — प्रागुदाहृते 'मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्त' त्यादौ, 'उत्कृत्योत्कृत्ये'त्यादौ चोत्कर्षवर्णा ओजो व्यञ्जयन्तः प्रकृतवीर-बीभत्सयोरानुगुण्यमदधत ।

वाच्यवशाद् यथा —

गर्जद्घनघटाटोपे हरौ हुङ्कारकारिणि ।
किमन्यैरपि दुर्दान्ताः सीदन्ति सुरदन्तिनः ॥

अत्र सिंहे वाच्ये [पृ० ३४.१] परुषाः शब्दाः गुणाः ।

प्रकरणवशाद् यथा —

रक्ताशोक! कृशोदरी क्व नु गता त्यक्त्वाऽनुरक्तं जनं
नो दृष्टेति मुधैव चालयसि किं वाताभिभूतं शिरः ।
उत्कण्ठाघटमानषट्पदघटासंघट्टदष्टच्छदः
तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः ॥

अत्र शिरोविधूननेन कुपितस्य वचसि विप्रलम्भेऽपि कष्टत्वं गुणः । क्वचिन्नीरसे कष्टत्वं न गुणो न दोषः । शृङ्गारवीरादिरसानामेकस्याप्यभावान्नापकर्षकं उत्कर्षकं च । यथा—

तद् गच्छ सिद्ध्यै कुरु देवकार्यं अर्थोऽयमर्थान्तर लभ्य एव ।
अपेक्षते प्रत्ययमङ्गलब्ध्यै बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः ॥

अप्रयुक्तनिहतार्थौ श्लेषादौ न दुष्टौ श्लेषरूपालङ्कारकृतचारुत्वनिर्वाहकत्वात् प्रतीतिमान्थर्यस्यादोषत्वात् । यथा—

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरा स्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत् ।
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात् स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥

अत्र माधवपक्षे—शशिमदन्धकक्षयकरशब्दावप्रयुक्तनिहतार्थौ । ध्वस्तकामेन अथ च अभवेन संसारातीतेन येन अनः शकटं 'अनो मातरि शकटे च' । ध्वस्तं भग्नम्, बलिजिद् विष्णुस्तस्य कायः शरीरं पुरा त्रिपुरदाहे अस्त्रीकृतः अस्त्रभावं प्रापितः । अथ च बलिजेता देहः पुराऽमृतपानावसरे स्त्रीत्वं प्रापितः । यश्चोद्धतानां सर्पाणां हारो वलयानि च यस्य तादृशः । अथ चोद्धतभुजङ्गः कालीयस्तस्य हन्ता ताडयिता । रवे वाचि वेदाख्ये लयो गुप्तिर्यस्य स तथा । यश्च गङ्गां देवनदीं धारितवान् । अथ च यः अगं पर्वतं गोवर्द्धनं गां सुरभिं भुवं वा दधार । यस्यामराः चन्द्रयुक्तमस्तके हर इति स्तुत्यं नामाहुः । अथ च शशिनं मथ्नाति शशिमत् राहुः, तस्य शिरश्छेत्तेति नामाहुः । कीदृग्? अन्धकदैत्यनाशकृत् । अथ च अन्धं अगाधं कं उदकं यस्य तादृक् समुद्रः; अन्धका यादवा वा, तत्र क्षयं वासं करोति । सर्वदा उमा पार्वती तस्या [प. ३४.२] धवः पतिः । अथ च सर्वं ददाति तादृशो माया लक्ष्म्या धव इति । हर-माधवपक्षयोर्यथाक्रमं योजना । अत्र शशिमत्पदं राहावप्रयुक्तं क्षयपदं च गृहे निहतार्थमिति कश्चित् ।

अश्लीलं क्वचिद्गुणोऽयम् । यथा—सुरतारम्भगोष्ठ्यां 'द्व्यर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु' इति कामशास्त्रस्थितौ—

करिहस्तेन संबाधे प्रविश्यान्तर्विलोडिते ।
उपसर्पन् ध्वजः पुंसः साधनान्तर्विराजते ॥

पुंसः पुरुषस्य ध्वजः केतुः साधनान्तः सैन्यमध्ये उपसर्पन् गच्छन् विराजते शोभते। सम्बाधे जनसङ्कुले देशे करिहस्तेन शुण्डादण्डेन अन्तः सैन्यमध्ये विलोलिते विरलीकृते सतीत्येकत्रार्थः। अपरत्र च—

तर्जन्यनामिके श्लिष्टे मध्यमापृष्ठतस्तयोः।
करिहस्त इति प्रोक्तः कामशास्त्रविशारदैः॥

इत्युक्तलक्षणेन करिहस्तेन अन्तर्योनिमध्ये प्रविश्य सम्बाधे योनिसङ्कोचे सति, विलोलिते विकाश(स)तां नीते सति, पुंसः पुरुषस्य ध्वजो लिङ्गं साधनान्तः योनिमध्ये विराजते शोभते इत्यर्थः।

शमकथासु यथा—

उत्तानोच्छूनमण्डूकपाटितोदरसन्निभे।
क्लेदिनि स्त्रीव्रणे सक्तिरकृमेः कस्य जायते॥

अत्र वैराग्यहेतुघृणोत्पादनया जुगुप्सा गुणः।

निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन।
रक्ताः प्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः॥

पाण्डुतनयाः पाण्डवाः पञ्च, माधवेन कृष्णेन सह, नन्दन्तु आनन्दं प्राप्नुवन्तु। कीदृशाः? अरीणां शत्रूणां दुर्योधनादीनां प्रशमात् कलहत्यागात्, पक्षे नाशात्, निर्वाणो नष्टो वैररूपो दहनोऽग्निर्येषां ते तथा। कुरुराजो धृतराष्ट्रः तस्य पुत्राः सभृत्याः स्वस्थाः सुखिनः, पक्षे स्वर्गस्था भवन्तु। कीदृशाः? रक्ताऽनुरक्ता प्रसाधिताऽलंकृता भूर्यैः। दुर्योधनामङ्गलस्य नायकमङ्गलत्वेन गुणत्वम्।

सन्दिग्धमपि राज्ञो महिमा वर्णनीय इति नियमार्थप्रतिपत्तिकृतत्वेन व्याजस्तुतिपर्यवसानाद् गुणः। यथा—

'कुभोजनं महाराज! तवापि च ममापि च।' इत्यादौ।

अधमप्रकृतेर्विदूषकादिरुक्तिषु [पृ. ३५.१] हास्यकारिषु ग्राम्यो गुणः।

न्यूनपदं क्वचिद् गुणः, यथा—

गाढालिङ्गनवामनीकृतकुचप्रोद्भिन्नरोमोद्गमा
सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा।
मा मा मानद माऽति मामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी
सुप्ता किं नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम्॥

अत्र पीडयेति पदमनुपात्तं वक्त्र्याः हर्षसंमोहातिशयं प्रतिपादयन् गुणतामापद्यत। अध्याहारेण वाक्यार्थबोधविलम्बेऽपि प्रकृतरसपोषकत्वाद्। उक्तरूपा सा नायिका मम मनसि सुप्ता वा, निश्चलत्वेन वर्तमानत्वात्। सुप्तस्य श्वासादिकमनुभूयत इत्यत आह—मृता नु किम्?। मृताऽपि

भ्यांहिरनुभूयत इत्यत आह—लीनेति, जतुकाष्ठादिवदिति शेषः। तथाभूतत्वापि विघटनं कर्तुं शक्यत इत्यतः विलीना नु किमिति? नीरक्षीरवदिति शेषः। कीदृशी? गाढालिङ्गनेन दृढपरी(रि)रम्भेण वामनीकृतौ सुभ्रौ कृतौ कुचौ यस्याः सा चासौ, प्रोद्भिन्नः प्रव्यक्तरोमोद्गमः पुलको यस्याः सा। तथा सान्द्रो निबिडो यः स्नेहः प्रीतिः रसः शृङ्गारस्तयोरतिरेकेनाधिक्येन विगलद् दूरीभवद् श्रीमतः शोभावतो नितम्बस्याम्बरं वस्त्रं यस्याः सा। हे मानद! मानखण्डक! मानप्रद! वा मां अलं अतिशयेन मा मा माऽतिपीडयेति शेषः। इत्यनेन प्रकारेण क्षामाक्षरस्य न्यूनशब्दस्य उल्लापिनी कथयित्रीत्यर्थः।

क्वचिन्न गुणो न दोषः, यथा—

'तिष्ठेत् कोपवशात् प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति।'

इत्यादौ पिहितेत्यनन्तरं नैतत् सा इत्येतैर्न्यूनपदैः विशेषबुद्धेरकरणाच्च गुणः। उत्तरा प्रतिपत्तिः पूर्वां बाधत इति न दोषः।

अधिकपदं क्वचिद् गुणः, यथा—

वद वद जितः स शत्रुर्न हतो जल्पँश्च तव तवास्मीति।
चित्रं चित्रमरोदीद्धा हेति परं मृते पुत्रे॥

इत्येवमादौ हर्षभयादियुक्ते वक्तरि हर्षादिपोषकत्वात्।

क्वचित् कथितपदं गुणः, लाटानुप्रासे अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्ये विहितस्यानुवाद्ये च। क्रमेणोदाहरणानि [पृ. ३५.२]—

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य॥

'यस्य मित्राणि मित्राणि' इत्यादौ।

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि संपदः॥

जितेन्द्रियत्वं इन्द्रियजयः विनीततायाः कारणं निदानम्। विनयाद् गुणानां प्रकर्षः उत्कर्षोऽवाप्यते प्राप्यते। गुणाधिके गुणैरधिके उत्कृष्टे पुंसि पुरुषे जनो लोकोऽनुरज्यते अनुरक्तो भवति। जनानुराग एव प्रभवः उत्पत्तिर्यासां तास्तथा संपदो विभूतयः इति त्रिषु, लाटानुप्रासादित्रयसंपादकत्वात्।

पतत्प्रकर्षं क्वचिद्गुणो यथा—

प्रागप्राप्तनिशुम्भशाम्भवधनुर्द्वेधाविधाविर्भवत्-
क्रोधप्रेरितभीमभार्गवभुजस्तम्भापविद्धः क्षणात्।
उज्ज्वालः परशुर्भवत्वशिथिलस्त्वत्कण्ठपीठातिथि-
र्येनानेन जगत्सु खण्डपरशुर्देवो हरः ख्याप्यते॥

अत्र चतुर्थपादे गुरुस्मरणेन क्रोधाभावात् मसृणवर्णत्वमेवोचितमिति तस्यादोषत्वमिति । विनयप्रकाशकत्वाच्च गुणत्वम् ।

समाप्तपुनरात्तं क्वचिन्न गुणो न दोषः । यत्र न विशेषापादनार्थं पुनर्ग्रहणं अपि तु वाक्यान्तरमेव क्रियते । यथाऽत्रैव 'प्रागप्राप्त०' इत्यादौ ।

अपदस्थसमासं क्वचिद्गुणः । उदाहृते 'रक्ताशोक' इत्यादौ, 'नो दृष्टा' इति क्रोधोक्तौ दीर्घसमासकरणात् स्थानौचित्यविवेचनाभावेन क्रोधोन्मादपरिपुष्टिः ।

अथ प्राचीनोक्तरसदोषानाह —

व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता ।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभाव-विभावयोः ॥ (मू० का० ६०)
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः ।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः ॥ (मू० का० ६१)
अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्ययः ॥
अनङ्गस्याभिधानं तु रसे दोषाः स्युरीदृशाः ॥ (मू० का० ६२)

व्यभिचार्यादीनां स्वशब्दोपादाने यथाक्रमं भावध्वनित्वं चमत्कारित्वं रसत्वं च न स्यात् । व्यञ्जितानामेव [पृ० ३६. १] व्यभिचार्यादीनां तत्तद्रूपत्वात् । अत एवोक्तम् 'व्यभिचारी तथाञ्जितो भावः प्रोक्त' इति । तथा 'अभिव्यक्तश्चमत्कारकारी शृङ्गारादिको रस' इति, एवं 'व्यक्तः स तै'रित्यादि च । एवं सति एतेषां प्रधानकाव्यत्वं भवति । तत् सर्वं व्यञ्जनामाहात्म्यम् । तत्र प्रमाणं तु सहृदयहृदयमेव ।

व्यभिचारिणः स्वशब्देनोपादानं यथा —

सव्रीडा दयितानने सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे
सत्रासा भुजगे सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि ।
सेर्ष्या जह्नुसुतावलोकनविधौ दीना कपालोदरे
पार्वत्या नवसङ्गमप्रणयिनी दृष्टिः शिवायास्तु वः ॥

पार्वत्या भवान्या दृष्टिर्नेत्रं वो युष्माकं शिवाय कल्याणाय अस्तु भवतु । कीदृशी ? दयितस्य शिवस्यानने मुखे सव्रीडा सलज्जा; मातङ्गस्य हस्तिनो यच्चर्म अजिनं तदेव यदम्बरं वस्त्रं तत्र सकरुणा सदया; भुजगे पत्युर्भूषणसर्पे सत्रासा सभया; अमृतस्यन्दिनि अमृतवर्षिणि चन्द्रे पत्युर्ललाटस्थितार्द्धचन्द्रे सविस्मयरसा अद्भुतरससहिता; जह्नुसुताया गङ्गाया अवलोकनविधौ दर्शनक्रियायां सेर्ष्या ईर्ष्याविशिष्टा; कपालानां भर्त्रा धृतानां उदरे मध्ये दीना दुःखिता; नवसङ्गमे नूतनसमागमे प्रणयिनी प्रीतिमतीत्यर्थः । अत्र व्रीडादीनां शब्दवाच्यता ।

ध्यानम्रा दयितानने मुकुलिता मातङ्गचर्माम्बरे
सोत्कम्पा भुजगे निमेषरहिता चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि ।
मीलद्भ्रूः सुरसिन्धुदर्शनविधौ म्लाना कपालोदरे,

इत्यादि युक्तम् । एवं कृते व्रीडादिव्यङ्ग्यतासिद्धेः । एवं रसस्य रसशब्देन शृङ्गारादि-शब्देन वाच्यत्वम् । क्रमेणोदा० —

तामनङ्गजयमङ्गलश्रियं किञ्चिदुच्चभुजमूललोकिताम् ।
नेत्रयोः कृतवतोऽस्य गोचरे कोऽप्यजायत रसो निरन्तरः ॥

तां नायिकां नेत्रयोर्लोचनयोर्गोचरे विषये कृतवतः अस्य पुरुषस्य कोऽप्यनिर्वचनीयो रसः निरन्तरः अनुस्यूतः अजायत उत्पत्तिमगात् । तां किदृशीम् ? अनङ्गस्य कामस्य [पृ० ३६.२] जयार्थं यन्मङ्गलं तस्य श्रीः शोभा किञ्चिदीषदुच्चं यद्भुजयोर्बाह्वोर्मूलं तत्र लोकितां दृष्टामित्यर्थः ।

'आलोक्य' इति । एष नायकः शृङ्गारसीमनि शृङ्गारप्रथमप्रान्तभागे तरङ्गितं चाञ्चल्यं सलीलशृङ्गारं वा आतनोति विस्तारयति । कीदृशः ? बाल्यं शैशवं अतिवृत्य अतिक्राम्य विशेषेण वर्तमानः । किं कृत्वा ? अभिरामरूपां सुन्दररूपां आलोक्य दृष्ट्वा । कीदृशीम् ? कोमलयोः कपोलतलयोः अभिष(षि)क्तः संबद्धो व्यक्तः प्रकटो योऽनुरागः प्रणयस्तेन सुभगां शोभनामित्यर्थः ।

'संप्रहार' इति । तस्य राज्ञः प्रहरणैरस्त्रैः संप्रहारे सङ्ग्रामे कोऽप्यनिर्वचनीयः उत्साहः अभूज्जातः । कैः ? श्रुतिगतैः कर्णप्राप्तैः परस्परमन्योऽन्यं प्रहाराणां शस्त्रक्षेपरूपाणां झणत्कारैः शब्दविशेषैरित्यर्थः ।

आलोक्य कोमलकपोलतलाभिषिक्त-
व्यक्तानुरागसुभगामभिरामरूपाम् ।
पश्यैष बाल्यमतिवृत्य विवर्तमानः
शृङ्गारसीमनि तरङ्गितमातनोति ॥

एवं स्थायिनो यथा —

संप्रहारे प्रहरणैः प्रहाराणां परस्परम् ।
झणत्कारैः श्रुतिगतैः उत्साहः तस्य कोऽप्यभूत् ॥

अत्रोत्साहस्य ।

तत्र **नवीनाः** प्रत्यवतिष्ठन्ते । व्यभिचार्यादीनां स्वशब्दवाच्यता न दोषाय किन्तु गुणायैव, तत्तदर्थानां शीघ्रोपस्थितिकत्वात् । अत एव महाकवीनां तथैवोपनिबन्धात् ।

यथा —

दूरादुत्सुकमागते विचलितं संभाषिणि स्फारितं
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने किञ्चाञ्चितभ्रूलतम् ।

मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे बाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥

उत्सुकमित्यौत्सुक्यस्य शब्दवाच्यता । यथा वा –

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताऽभिमुख्यं पुनः ।
दृष्ट्वाऽग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः ॥ [प० ३७.१]

उत्सुकतया कृता त्वरा यस्याः सा । ततो देहेन सहोत्पन्नया लज्जया हेतुभूतया अपसर्पन्ती तैस्तैः सखीनां वचनैः सन्निधिं नीता । अग्रे पतिं दृष्ट्वा गृहीतभयरसा प्रथमसङ्गमे उद्भूत-रोमाञ्चः सहसा हसता वा हरेणालिङ्गिता गौरी पार्वती वः शिवाय भवत्वित्यर्थः । अत्रौत्सुक्यस्य । यथा वा –

त्वमग्रतः सञ्चल चञ्चलाक्षि त्वमेव जीवेश्वर निस्सराग्रे ।
इति ब्रुवद् वेश्मनि वह्निदीप्ते मिथोऽनुरागाद् मिथुनं विपन्नम् ॥

अत्रानुरागस्य । यथा वा –

तृषितां हरिणीं हरिणः तृषितं हरिणं विजानती हरिणी ।
मितमम्बु पल्वलगतं कपटं पिबतः परस्परालोकम् ॥

अथ व्रीडाद्यनुभावैर्विचलितत्वाधैर्व्रीडादिवदौत्सुक्यानुभावैरौत्सुक्यादिकं झटिति प्रत्याययितुं न शक्यते इति, औत्सुक्यादीनां झटिति प्रत्ययार्थं स्वशब्दवाच्यतेति चेत्, न । एतस्यार्थस्य शपथेन प्रत्याययितुं शक्यत्वात् । अपि च सिद्धा व्यभिचार्यादीनां झटिति प्रत्ययहेतुत्वात् स्वशब्दवाच्यता न दोषाय, किन्तु गुणायैवेति ।

'कष्टकल्पनए(ये ?)वे'ति क्लिष्ट एवान्तर्भावः ।

'प्रतिकूलविभावादिग्रह' इति । यथा शृङ्गारादिकं प्रति प्रतिकूलस्य शान्तस्य विभावा-देरुपादानं समूलमुन्मूलयतीति तदेव दूषकताबीजम् ।

'दीप्तिः पुनः पुनः' – विच्छिद्य विच्छिद्य ग्रहणं वेद्यान्तरसम्बन्धेन रसादिविच्छेदो भवतीति तदेव दूषकताबीजम् । यथा कुमारसंभवे रतिविलापे ।

'अकाण्डे प्रथनम्' यथा – वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्के बहूनां संक्षये प्रवृत्ते भानुमत्या सह दुर्योधनस्य शृङ्गारवर्णने ।

'अकाण्डे विच्छेदो' यथा – वीरचरिते राम-जामदग्न्ययोर्धारावाहिनि वीररसे कङ्कण-मोचनाय गच्छामीति रामस्योक्तौ ।

'अङ्गस्याप्रधानस्य अतिविस्तारेण' वर्णनं यथा – हयग्रीववधे हयग्रीवस्य ।

'अङ्गिनो अननुसन्धानम्' यथा – रत्नावल्यां बाभ्रव्यागमने सागरिकाया विस्मृतिः । [प० ३७. २.]

'प्रकृतयश्च' – दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च । धीरोदात्त-धीरोद्धत-धीरललित-धीरशान्ता उत्तमाधममध्यमाश्च । तेषां लोकशास्त्रातिक्रमेण अन्यथा वर्णनम् ।

'अनङ्गस्य' रसानुपकारकस्य अभिधानं कथनम्, यथा – कर्पूरमञ्जर्यां आत्मना नायिकया च कृतं वसन्तवर्णनमनादृत्य बन्दिवर्णितस्य राज्ञः प्रशंसनम् ।

'ईदृशा' इति, नायिकापादप्रहारादिना नायककोपवर्णनमिति । उक्तञ्च –

'अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥' इति ।

इहेदानीं क्वचिद्दोषा एते इत्याह –

न दोषः स्वपदेनोक्तावपि सञ्चारिणः क्वचित् । (मू० का० ६३, पू०)

यथा –

प्रातः पुनः स्यादुदियाच्च भानोः पश्याम कोदण्डमनाततज्यम् ।
इत्युत्सुकस्तत्र स रामभद्रो निद्रादरिद्रो रजनीमनैषीत् ॥

अत्रोत्सुकशब्द इव तदनुभावो न तथाप्रतीतिकृदिति स्वशब्देनोपादानम् । यथा वा, 'दूरादुत्सुकमागते'त्यादौ, 'औत्सुक्येन कृतत्वरा' इत्यादौ च । तदनुभावस्य सहसा प्रसारणादिरूपस्य स्वशब्दस्येव तस्य झटिति प्रत्यायकत्वात् ।

सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा ॥ (मू० का० ६३, उ०)

बाध्यत्वेनोक्तिर्न परं दोषो यावत् प्रकृतरसपरिपोषकृत् । यथा 'क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः' इत्यादौ । वितर्कमतिशङ्काधृतीनां शान्तसञ्चारिणां शृङ्गारपरिपन्थिनामपि बाध्यत्वेनोक्तेः शत्रुविजयपूर्वकराज्यलाभवत् प्रकर्षविशेषाधायकत्वेन तत्परिपोषकतानामुपमर्थे चिन्तायामेव विश्रान्तेः । तेनात्र प्रतिकूलविभावादिग्रहो न दोषः, सञ्चार्यादेरित्यादिग्रहणात् ।

विरुद्धस्य विभावादेर्बाध्यत्वेनोक्तौ गुणावहत्वं यथा –

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः ।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम् ॥

रामाः स्त्रियः मनोरमाः सौन्दर्यवत्यः इति सत्यं यथार्थम्, विभूतयः संपत्तयः रम्याः शोभनाः इति [प. ३८. १] सत्यम् । किन्तु परन्तु जीवितं जीवनं मत्ता मदनेन मत्ता या अङ्गना स्त्री तस्याः अपाङ्गो नेत्रप्रान्तस्तस्य भङ्गस्तिर्यक्त्वेन वीक्षणं तद्वत् लोलं चञ्चलमित्यर्थः । अत्र शृङ्गारविभावस्य शान्तविभावस्य जीवितास्थैर्यत्वस्य परस्परं विरुद्धत्वेऽपि शृङ्गारविभावस्य बाध्यत्वेनाभिधानात् न दोषत्वम्, अपि तु गुणत्वं शान्तपरिपोषकत्वात् । सर्वो रामादयः सत्येव जीविते तदर्थमुपादेयाः, जीवितं चातिभङ्गुरमिति कृतमुपादेयत्वमेतेषाम् । अतो रम्यत्वेऽपि निष्फला एवेति पर्यवसानात् ।

आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्नसंश्रयः ।
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः ॥ (मू० का० ६४)

वीर-भयानकयोर्नैरन्तर्येण विरोध इति रसान्तरमन्तरे कार्यम् । यथा नागानन्दे शान्तस्य जीमूतवाहनस्य 'अहो गीतमहो वादित्रम्' – इत्यद्भुतमन्तर्निवेश्य मलयवतीं प्रति शृङ्गारो बद्धः ।

स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः ।

अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम् ॥ (मू० का० ६५)

यथा – 'अयं स रस(श)नोत्कर्षी' इत्यादौ पूर्वावस्थास्मरणं शृङ्गाराङ्गमपि करुणं पोषयति । 'साम्येने'ति यथा –

सरागया श्रुतघनघर्मतोयया कराहतिध्वनितपृथूरुपीठया ।

मुहुर्मुहुर्दशनविलङ्घितोष्ठया रुषा नृपाः प्रियतमए(ये)व भेजिरे ॥

इत्यत्र शृङ्गार-रौद्रयोः साम्यविवक्षणाददोषत्वम् ।

'अङ्गिन्यङ्गत्व'मिति यथा –

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं

गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः संभ्रमेण ।

आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः

कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥

सः प्रसिद्धप्रभावः शाम्भवः शम्भुसम्बन्धी शराग्निर्बाणाग्निः वो युष्माकं दुरितं पापं दहतु भस्मीकरोतु । क इव ? कामीव कामुक इव । कीदृशः ? आर्द्रापराधः – आर्द्रो नूतनोऽपराधो यस्य सः । शराग्नेः कामुकस्य च । [पृ० ३८.२] विशेषणान्याह – हस्ते पाणाववलग्नः सम्बद्धः सन्, त्रिपुरयुवतिभिः त्रिपुरनामकदैत्यस्त्रीभिः क्षिप्तो दूरीकृतः । शराग्नेर्हस्तसंपर्के कामुकस्याप्यपराधक्षमापनाद्यर्थं करग्रहणे स्त्रीणां प्रक्षेपस्योचितत्वात् । प्रसभं हठात् अंशुकान्तं वस्त्रप्रान्तं आददानः सन्, अभिहतो दूरीकृतस्तिरस्कृतश्च । वस्त्रप्रान्तेऽग्नेः संपर्केऽभिहतस्य सहसा कृतापराधेन नायकेन वस्त्रप्रान्तधारणे सति, रुष्टया तदभिहननस्य न्याय्यत्वात् । केशेषु चिकुरेषु गृह्णन् स्पृशन् अपास्तः दूरीकृतोऽवज्ञातश्च । अग्नेः केशसंपर्के कृतापराधेन चुम्बनाद्यर्थं नायिकाकेशग्रहणे तथा तदपासनस्य न्याय्यत्वात् । चरणयोः पादयोः पतितः सन्, संभ्रमेण नेक्षितो नावलोकितः । व्यासङ्गेन चरणतलपतितस्याग्नेः, प्रसादनाय च तत्रैव पतितस्य नायकस्य क्रोधेनानवलोकनस्योचितत्वात् । यः शराग्निः कामुकश्च आलिङ्गन् दहन् (?) सन् अवधूतस्त्यक्तः । उभयोरप्यालिङ्ग्यमानयोस्त्यागस्योचितत्वात् । त्रिपुरयुवतिभिः कीदृशीभिः ? साश्रु सजलं नेत्रोत्पलं नेत्रात्मकनीलकमलं यासां ताभिरित्यर्थः । इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य करुणोऽङ्गम्, तस्य तु शृङ्गारः, तस्यापि च करुणे विश्रान्तिरिति शृङ्गारपरिपोषितेन करुणेन मुख्य एवार्थ उपोद्बल्यते ॥

॥ इति पादशाह-श्रीअकब्बरसूर्यसहस्रनामाध्यापक-श्रीशत्रुञ्जयतीर्थकरमोचनाद्यनेकसुकृतविधापक महोपाध्याय-श्रीभानुचन्द्रगणिशिष्याष्टोत्तरशतावधानसाधनप्रमुदितपादशाह-श्रीअकब्बरप्रदत्त-खुस्फहमापराभिधानमहोपाध्याय-श्रीसिद्धिचन्द्र-गणिविरचिते काव्यप्रकाशखण्डने सप्तम उल्लासः ॥

अष्टम उल्लासः ।

दोषानुक्त्वा गुणालङ्कारयोर्विवेकमाह—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते [पृ० ३९.१] स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥
(मू० का० ६६)

अस्यार्थः—काव्ये प्राधान्येन स्थितस्य रसस्य ये धर्माः साक्षात् तदाश्रिता इत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः—आत्मनः एव शौर्यादयो गुणाः न शरीरस्य, तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम् । ननु कथं तर्हि वामनादीनां वर्णगतत्वेन व्यवहार इति चेत्, उच्यते—समुचितैर्वर्णैर्व्यज्यन्ते गुणा इति व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावरूपपरम्परासम्बन्धेन वर्णगतत्वेन व्यवह्रियन्ते, न साक्षात् । यथाऽवच्छेदकतासम्बन्धेन शौर्यादयः शरीरे । अचलस्थितयो नियतावस्थितयः । नैयत्यं च रसेन तदुपकारेण च । तथा च ते रसं विना नावतिष्ठन्ते । अवस्थिताश्चावश्यमुपकुर्वन्ति । अत एव एतयोर्द्धर्मयोर्व्यतिरेकमलङ्कारे वक्ष्यति । रसस्यावश्यं उपकारित्वे सति रसं विनावस्थितिशून्यत्वम् । गुणत्वमिति तु गुणलक्षणमित्यन्ये । नवीनास्तु रसोत्कर्षहेतुत्वे सति रसधर्मत्वं इत्याहुः । परे तु रसधर्मा गुणास्ते चोत्कर्षरूपाः । तव्यञ्जकस्य काव्यस्य उत्कर्षकाश्च । तदाह उत्कर्षहेतव इति । तेन दोषव्यवच्छेदः । उत्कर्षहेतुषु अलङ्कारादिषु अतिव्याप्तिवारणाय अचलस्थितय इति । अचला नियता स्थितिर्येषां ते । तथा रसविशेषनियतविशेषा रसधर्मा इत्यर्थः । शृङ्गारादौ माधुर्यस्य वीरादौ ओजसश्च नियतत्वात् । अलङ्काराणां च सर्वेषां सर्वरसोत्कर्षकत्वात् । ननु 'अयं स रशनो०' इत्यादौ अङ्गतां प्राप्नुवति शृङ्गारे माधुर्यव्यञ्जकवर्णविरहेण अव्याप्तिरित्यत अङ्गिन इति । अङ्गिन्येव स्थितिनियमो नाङ्ग इति वदन्ति ।

अलङ्कारेषु उक्तगुणधर्मराहित्यं दर्शयितुं अलङ्कारस्वरूपमाह—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ (मू० का० ६७)

ये वाच्य-वाचकलक्षणातिशयमुखेन मुख्यं रसं संभविनमुपकुर्वन्ति तेऽलङ्काराः । तत्र दृष्टान्तः—कण्ठाद्यङ्गानां उत्कर्षाधानद्वारेण [पृ० ३९.२] शरीरिणोऽप्युपकारकाः, हारा इवेत्यर्थः । तेन अलङ्कारा रसं विना अवतिष्ठन्ते, अवश्यं च नोपकुर्वन्ति, न वा रसे साक्षादिति । किन्त्वङ्गद्वारेति गुणेभ्यो विलक्षणा एत इति ध्येयम् । यत्र तु नास्ति रसस्तत्र उक्तिमात्रवैचित्र्यपर्यवसायिनः । क्वचित् सन्तमपि नोपकुर्वन्ति ।

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥

इत्यादौ अनुप्रासेन कोमलया वृत्त्या शब्दानां अलङ्करणद्वारा विप्रलम्भो रस उपक्रियते । तथा,

मनोरागस्तीव्रं विषमिव विसर्पत्यविरतं
प्रमाथी निर्धूमं ज्वलति विधुतः पावक इव ।
हिनस्ति प्रत्यङ्गं ज्वर इव गरीयानित इतो
न मां त्रातुं तातः प्रभवति न चाम्बा न भवती ॥

अत्र वाच्यमुखेन मालारूपकेण तीव्रविषादित्वं मनोरागे प्रत्याय्य विप्रलम्भ उत्कृष्यते । उक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसिता इति । उक्तिवैचित्र्यं शब्दानां सुश्रवत्वं बन्धकौशल्यं च । अर्थानामीषन्मनोहारित्वं 'शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणि०' इत्यादौ सुप्रसिद्धमुदाहार्यम् ।

सतोऽप्यनुपकारित्वमुदाहरति, यथा –

चित्ते चहुट्टदि न खुट्टति सा गुणेसु
सेज्जाइ लुट्टदि विसट्टति दिम्मुहेसुं ।
बोल्लम्मि वट्टदि पअट्टदि कब्वबन्धे
कण्णेन तुट्टदि चिरं तरुणी तरट्टी ॥

तरट्टी प्रगल्भा । अथ वा

बालानां चुम्बनालिङ्गौ कबरीमोक्षबन्धने ।
कर्णकण्डूयनं स्त्रीणां तरट्टीलक्षणं स्मृतम् ॥

इति लक्षणेनात्यारूढमनोभवा नायिका तरट्टी द्रष्टव्या । अत्र सन्तमपि रसे नोपकरोति ओजोव्यञ्जकस्य परुषानुप्रासस्य विप्रलम्भाननुकूलत्वात् । प्राकृतस्य ओजोगुणव्यञ्जकप्रधानत्वात् तदनुकूलत्वेनादोषत्वाच्च । तथा –

मित्रे क्वापि गते सरोरुहवने बद्धानने ताम्यति
क्रन्दत्सु भ्रमरेषु वीक्ष्य दयितासन्नं पुरः सारसम् ।
चक्राह्वेण वियोगिना बिस(स)लता नास्वादिता नोज्झिता,
वक्त्रे [प० ४०.१] केवलमर्गलेव निहिता जीवस्य निर्गच्छतः ॥

मित्रे सूर्ये सुहृदि च क्वापि कुत्रापि गते प्राप्ते सति कमलवने मुद्रिते अवचने च ताम्यति । निःश्रीके तप्यमाने च सति भृङ्गेषु तारस्वरेण शब्दायमानेषु रोदनवत्सु च पुरः अग्रे दयितासन्नां कान्तसमीपवर्तिनीं सारसीं दृष्ट्वा वियुक्तेन चक्रवाकेन मृणाललता न भक्षिता, न त्यक्ता नोज्झिता । केवलं निर्गच्छतो निःसरतो जीवस्य अर्गलेव परिघ इव वक्त्रे न्यस्तेत्यर्थः । अत्र विप्रलम्भे जीवापगमस्यैव वर्णनीयत्वे तत्प्रतिबन्धकवर्णने सन्तमपि विप्रलम्भं उपमा नोपकरोति एष एव गुणालङ्कारविवेकः ।

इदानीं गुणानां भेदानाह—

माधुर्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश ।
आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ॥ (मू० का० ६८)

अर्थात् संभोगे । द्रुतिर्गलितत्वम् । इह हि सामाजिकानां चित्तेषु नवरसजन्यास्तिस्रोऽवस्थाः । द्रुतिः विस्तारो विकासश्च । तत्र शृङ्गारकरुणशान्तेभ्यो द्रुतिः, वीरबीभत्सरौद्रेभ्यो विस्तारः, हास्याद्भुतभयानकेभ्यो विकासः । येन हास्ये वदनविकासः, अद्भुते नयनविकासः, भयानके द्रुतापसरणमिति ।

करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।
(मू० का० ६९, पू०)

अत्यन्तद्रुतिहेतुत्वात् ।

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ॥ (मू० का० ६९, उ०)

चित्तस्य विस्ताररूपदीप्तत्वहेतुरोजः ।

बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च । (मू० का० ७०, पू०)

वीराद् बीभत्से ततोऽपि रौद्रे सातिशयमोजः । एवं हास्ये शृङ्गाराङ्गता(तया) माधुर्यं प्रकृष्टविकासधर्मतया ओजोऽपि प्रकृष्टम् । एवमद्भुतेऽप्योजः । माधुर्यमप्याह्लादकरूपतया भयानकेऽप्येवमेव । माधुर्यमग्नचित्तद्रुतिस्वभावत्वेऽपि विभावस्य दीप्तरसतया ओजः प्रकृष्टं च ।

शुष्केन्धनाग्नि(ग्नि)वत् स्वच्छजलवत् सहसैव यः ॥
(मू० का० ७०, उ०)

[1]व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ।
(मू० का० ७१, पू०)

अन्यदिति । व्याप्यमिह चित्तम् । यदा वीररसादिषु चित्तं व्याप्नोति तदा [पृ० ४०, २] शुष्केन्धनादि(ग्नि)वत् । यदा शृङ्गारकरुणादिषु तदा स्वच्छजलवदिति । सर्वत्रेति सर्वेषु रसेषु सर्वासु रचनासु । झटिति मत्या(ती?)यमानत्वं रसेषु, झटिति प्रत्यायकत्वं रचनादिषु । ननु यदि तेन शब्दार्थयोस्तदा कथं लक्षणे सगुणाविस्युक्तमिति चेत्, इत्यत आह—

गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ॥ (मू० का० ७१, उ०)

गुणवृत्त्या उपचारेण व्यञ्जकत्वेन तद्वत्त्वमुपचर्यत इत्यर्थः । दशेति परोक्ताः । तदुक्तम्—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वं ओजःकान्तिसमाधयः ।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणा स्मृताः ॥

---

१ 'व्याप्नोत्यन्यत्' इति मु. पा. ।

तत्र श्लेषादीन् क्रमेणाह — बहूनां पदानां एकवद्भासनं श्लेषः। सन्धिसौष्ठ(ष्ठ)वादेकरूपा-नीयवर्णविन्यासात्। यथा —

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।

— इत्यादौ।

श्रुतिमात्रेण शब्दानां येनार्थप्रत्ययो भवेत्।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः॥

समग्राणां घटनादीनां यथा —

इधु(क्षु)च्छायानिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्भूतं शालिगोप्यो जगुर्यशः॥

समता मार्गाभेदः। यया रीत्या उपक्रमस्तया समापनं [मार्गा-]भेदः। यथा —

अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गं भङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्ग्याः।
कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैमाः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तनानि॥

आनताङ्ग्या नम्रशरीरायाः अङ्गं शरीरं तथा भङ्गीभिरङ्गीकृतं स्वीकृतं यथा एता भङ्ग्यः यूनां स्वान्तानि मनांसि शान्तापरः शृङ्गारः तच्चिन्तनानि तत्प्रवणानि कुर्वन्ति इत्यर्थः।

पृथक्पदत्वं माधुर्यं सुश्रवत्वं वा। 'वैवस्वतो मनुर्नामे'त्यादि।

सुकुमारता परुषेतरवर्णशालित्वम्। यथा — 'अपसारय घनसार'मित्यादौ।

अर्थव्यक्तिः झटित्यर्थसमर्पणम्। यथा — 'इक्षुच्छाया' इत्यादौ।

उदारता विकटत्वरूपा। विकटत्वं च पदानां विच्छेदात् नृत्यत्प्रायत्वम्। यथा —

सुचरणविनिसृष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां मणितरणितमासीत् तत्र चित्रं कलं च।

ओजो [पृ० ४१. १] गाढबन्धत्वम्। उदाहरणम् — 'मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ते'त्यादौ।

कान्तिरौज्ज्वल्यम्। हलिकादिसाधारणपदविन्यासपरित्यागेन लौकिकशोभाशालित्वम्।

यथा — कलक्वणितगर्भेण कण्ठेनाघूर्णितेक्षणः।
पारावतः परिभ्रम्य रिरंसुश्चुम्बति प्रियाम्॥

आरोहावरोहरूपः समाधिः। आरोहो गाढता, अवरोहः शैथिल्यं तयोः क्रमः। क्रमेण तन्निबन्धः। यथा —

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसंचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणशोचिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि! भीमः॥

अत्र संचूर्णितान्ते आरोहः, सुयोधनान्ते अवरोहः। पुनस्तवान्ते पूर्वः, भीम इत्यन्ते परः। न पुनर्दशेति। एते श्लेषादयो न गुणाः। गुणा हि रसधर्मा इत्यत्र प्रमाणाभावात्। एते शब्दगुणाः स्वीकार्याः रसोत्कर्षकत्वात्। ननु तथासति गुणालङ्कारयोर्विभागोऽनुपपन्नः

इति चेत्, न । काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा इति विभागोपपत्तिः । एवं चेदर्थगुणा अपि स्वीकार्याः । तथा हि — क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वो-पपत्तियोगरूपघटनात्मा श्लेषः । अस्यार्थः — क्रमः क्रियापरम्परा, विदग्धचेष्टितं कौटिल्यम्, अप्रसिद्धवर्णनविरहः अनुल्बणत्वम्, उपपादकयुक्तिविन्यास उपपत्तिः, एषां योगः । सः स(स्व ?)रूपं यस्य(स्या) घटनायाः सश्लेषः । उदाह०

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकप्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥

एवं प्रसादोऽर्थवैमल्यं यावदर्थपदता । यथा काञ्चीपदं न तु काञ्चीगुणस्थानमिति । अत्र गुणपदस्याधिक्यात् ।

अवैषम्यरूपा समता क्रमाभेदः । यथा — 'उदेति सविता ताम्र' इत्यादौ ।

माधुर्यमुक्तिवैचित्र्यम् । [पृ० ४१, २] एकस्यैवार्थस्य भङ्ग्यन्तरेण कथनं तदेव नवी-कृतत्वम् । यथा —

यदि दहत्यनिलोऽत्र किमद्भुतं यदि च गौरवमद्रिषु किं ततः ।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः प्रकृतिरेव सतामविषादिता ॥

इत्यादौ स्वाभाविकत्वादिनाऽद्भुतम् । एवं 'किं तत एतयो'रपि । अत्र स्वाभाविकत्वस्य भङ्ग्यन्तरेण कथनान्नवीकृतत्वम् ।

सुकुमारता अपारुष्यम् । अकाण्डे शोकादिदायिताभावः । यथा 'मृते यशःशेष' इति । यथा वा —

सारसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कङ्कः ।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये ॥

तथा वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः । वस्तुनः स्वभावस्य स्फुटत्वं वर्णनीयव्यक्तीकरणं यत्र रसाभिव्यक्तिकृतचारुत्वाय परं भवतीति शेषः । यथोदाहृते 'पारावतः परिभ्रम्ये'त्यादौ । स्वभावोक्तिस्तु अलङ्कारकृतचारुत्वाय परं भवतीति ततोऽस्य भेदः । उदारत्वं वाच्यता-वैदग्धी । यथा —

'कामकन्दर्पचाण्डालो मयि वामाक्षि ! निर्दय' इत्यादौ ।

पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा ।
प्रौढिर्व्यास-समासौ च [साभिप्रायत्वमस्य च ॥]

ओजः । क्रमेणोदा० 'चन्द्र' इत्येकपदार्थे 'अत्रिनयनसमुत्थं ज्योति'रिति । द्वितीयं यथा — 'कान्तार्थिनी तु या याति सङ्केतं साभिसारिका' इति बहुपदार्थेषु अभिसारिकापदा-

भिधाने । तथा एकवाक्यार्थस्यानेकवाक्येन प्रतिपादनं व्यासः, तथाऽनेकवाक्यार्थस्य एकेन प्रतिपादनं समासः । क्रमेणोदा०

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
संतर्पिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥

अत्र तत्त्वज्ञानं विना सर्वमकिञ्चित्करमित्येकवाक्यार्थोऽनेकवाक्येन प्रपञ्चितः ।

ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम् ।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥

अत्र एकवाक्ये बहुवाक्यार्थनिबन्धात्मा समासः ।

अथ कान्तिः [पृ० ४२. १] दीप्तरसत्वरूपा । यत्र रसोद्दीपनैकहेतुत्वं चारुत्वेनालङ्कारादिसंमिलत्तम् । यथा 'यः कौमारहर' इत्यादौ ।

तथा अर्थदृष्टिरूपः समाधिः । अर्थश्च द्विविधः । अयोनिः, अन्यच्छायायोनिश्च । क्रमेणोदा० – 'सद्यो मुण्डितमत्तहूणचिबुकस्पर्द्धि(?)नारङ्गक'मित्यत्र । एवं नारङ्गकवर्णनमन्येन [न] कृतमित्ययोनिः । द्वितीयो यथा –

निजनयनप्रतिबिम्बैरम्बुनि बहुशः प्रतारिका कापि ।
नीलोत्पलेऽपि मृष्यति करमर्पयितुं कुसुमलावी ॥

अत्र वदनोत्पलयोः सादृश्यमन्येनापि वर्णितमित्यन्यच्छायायोनिः । इत्यास्वाददेतूनां गुणानामपलापः कर्तुमयोग्यः प्रकाशकृतामिति नवीनाः ।

अथ रसधर्माणां माधुर्यौजःप्रसादानां गुणानां व्यञ्जकान् वर्णान् आह –

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगा वर्णा अटवर्गा रणौ लघू ।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ॥ (मू० का० ७४)

टठडढवर्जाः कादयो मान्ताः शिरसि निजनिजवर्गान्त्यवर्णयुक्ताः । यथा 'कुन्द' इत्यादि । तथा रणौ ह्रस्वान्तरितौ । इति वर्णाः । अवृत्तिः समासाभावो मध्यमः समासो वेति । तथा माधुर्यवती पदान्तरयोगे('गेन?') रचना माधुर्यस्य व्यञ्जिका इति शेषः । पदान्तरयोग इति यथा 'अलङ्कृत' इत्यत्र पदयोः सन्धौ मधुरवर्णोत्पत्तिः । यथा – 'अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्ग'मित्यादि ।

१ 'स्पर्शी' इति पाठः मु० पु० ।

योग आद्यतृतीयाभ्यामन्तरेण तृतीययोः ।

टादिशे(श)षौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि† ॥ (का० ७५)

चवर्गप्रथम-द्वितीयाभ्यां द्वितीय-चतुर्थयोर्योगः । रेफेणाध उपरि उभयत्र वा यस्य कस्यचित्तुल्ययोस्तेन तस्यैव सम्बन्धः । टवर्गो णकारवर्जः, शकार-षकारौ, दीर्घसमासः, विकटा घटना ओजसो व्यञ्जिका इत्यर्थः । यथा 'मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ते'त्यादि ।

प्रसादव्यञ्जकानाह —

श्रुतिमात्रेण शब्दानां येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।

साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणः स्मृतः ॥ (मू० का० ७६)

समग्राणां रसानां समासानां घटनानां च । यथा —

परि [प० ४२. २] म्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयतः
तनोर्मध्यस्यान्तःपरिमिलनमप्राप्य हरितम् ।
इदं व्यस्तन्यस्तं श्लथभुजलताक्षेपचलनैः
कृशाङ्ग्याः संतापं वदति नलिनीपत्रशयनम् ॥

कृशाङ्ग्याः कृशशरीरायाः संतापं विरहवेदनां बिसिनीपत्रस्य कमलिनीदलस्य इदं शयनं शय्या वदति कथयति । कीदृशम् ? पीनयोर्मांसलयोः स्तनयोः जघनस्य नितम्बस्य सङ्गात् संसर्गात् उभयतो भागद्वये ऊर्ध्वाधोरूपे परिम्लानं उच्छुष्कम् । पुनः कीदृशम् ? तनोर्मध्यस्य उदरभागस्य परिमिलनं संसर्गमप्राप्य अन्तर्मध्ये हरितं हरिद्वर्णम् । श्लथा या भुजलता तस्याः क्षेपो बुद्धिपूर्वकचालनम्, चलनं चाबुद्धिपूर्विका क्रिया, तैर्व्यस्तन्यासं विघटितसंनिवेशमित्यर्थः । यद्यपि गुणपरतन्त्रा घटनादयस्तथापि —

वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित् क्वचित् ।

रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ॥ (मू. का. ७७)

क्वचित् वाच्यप्रबन्धानपेक्षया वक्त्रौचित्यादेव रचनादयः । क्वचित् वक्तृप्रबन्धानपेक्षया वाच्यौचित्याद् रचनादयः । उदाहरणं स्वयमूहनीयम् । एवं क्वचित् वक्तृवाच्यानपेक्षया प्रबन्धोचिता एव ते । तथा हि — आख्यायिकायां शृङ्गारेऽपि न मसृणवर्णादयः । कथायां रौद्रेऽपि नात्यन्तमुद्धताः । नाटकादौ रौद्रेऽपि न दीर्घसमासादयः । एवमन्यदौचित्यमनुसर्तव्यम् ॥

॥ इति पादशाहश्रीअकब्बरसूर्यसहस्रनामाध्यापक-श्रीशत्रुञ्जयतीर्थकरमोचनाद्यनेकसुकृतविधायक-
महोपाध्याय-श्रीभानुचन्द्रगणिशिष्याष्टोत्तरशतावधानसाधनप्रमुदितपादशाहश्रीअकब्बर-
प्रदत्त-षु(खु)स्फहमापराभिधानमहोपाध्याय-श्रीसिद्धिचन्द्रगणिविरचिते
काव्यप्रकाशख(ख)ण्डने गुणनिर्णयो नाम अष्टम उल्लासः ॥

ॐ

---

† मु. पु. एषः श्लोक ईदृक्पाठात्मको लभ्यते —

योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः ।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ॥

१ 'शब्दास्तु' इति मु. पु. पाठः ।

नवम उल्लासः ।

अलङ्कारे विवेचनीये लक्षणशब्दस्य प्रागुपादानात् तथैवाकाङ्क्षासत्त्वात् शब्दालङ्कारानादावाह —

यदुक्तमन्यथा [पृ० ४३. १] वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥
(मू० का० ७८)

वक्तृ-श्रोतृनिर्वाह्योऽयमलङ्कारः । अन्यथा अन्यप्रकारेण वक्तुरन्याभिप्रायकं वाक्यं श्रोत्राऽन्यथा समर्थितमित्यर्थः । अन्येनेति तेन स्वोक्तौ अन्यथाकरणे अपह्नुतौ नातिव्याप्तिः । श्लेषेण वक्तुरविवक्षितेन शब्दस्य शक्यान्तरेण । तथा काक्वा । तथा च श्लेषवक्रोक्तिः, काकुवक्रोक्तिश्चेति निर्गलितार्थः । क्रमेणोदाहरणम् —

अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता ।
त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारुमयी क्वचित् ॥

अस्यार्थः — दारुणा हिंस्रा काष्ठेन च । त्रिगुणा सत्त्वरजस्तमोमयी । अत्र दारुणत्वपदस्य दारुमयत्वेनान्यथा योजनम् ।

गुरुजनपरतन्त्रतया दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम् ।
अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि ! सुरभिसमयेऽसौ ॥

गुरुपरतन्त्रतया गुर्वाधीनतया बत कष्टे दूरतरं बहुदिवसगम्यं देशं जनपदं गन्तुं यातुं उद्यतः कृतोद्योगः वसन्तसमये असौ नायको नैष्यति नायास्यति । कीदृशे ? अलिकुलं भ्रमरसमूहः कोकिलः पिकः तेन ललिते सुन्दरे । सखीति सम्बोधनपदम् । नायिकया नैष्यतीति निषिद्धे, तत्सखी काक्वा अन्यथयति — नैष्यति ? अपि तु एष्यत्येवेत्यर्थः ।

वर्णसाम्यमनुप्रासः, (का० ७९, प्र० पा०)

यमकेऽतिव्याप्तिवारणार्थमाह — स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जनसाम्यमनुप्रासः । अत्र स्वरसादृश्यं न प्रयोजकं कुलालकलत्रमित्यादिष्वपि दर्शनात् । यमके तु समानानुपूर्वीकत्वं प्रयोजकम् ।

छेकवृत्तिगतो द्विधा । („ द्वि० पा०)

छेका विदग्धाः । वृत्तिर्मधुररसादिव्यञ्जिका तत्तदानुपूर्वीरूपा । गतो ज्ञातः । आभ्यामुपाधिभ्यामित्यर्थः । छेकानुप्रासो वृत्त्यनुप्रासश्चेति द्विधा ज्ञेयः । किं तयोः स्वरूपमित्याह —

सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः, („ तृ० पा०)

अनेकस्य अर्थाद् व्यञ्जनस्य सकृदेकवारं साम्यं छेकानुप्रासः । यथा —

ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः (प० ४३. २) शशी ।
दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम् ॥

ततस्तदनन्तरं शशी चन्द्रः कामेन कन्दर्पेण परिक्षामा कृशा या कामिनी तस्या यो गण्डो गल्लात् परमदेशस्तद्वत् पाण्डुतां पाण्डरवर्णतां दध्रे धृतवान् । कीदृशः? अरुणस्य सूर्यस्य परिस्पन्देनोदयेन मन्दीकृतं म्लानतां नीतं वपुः शरीरं यस्य सः । मन्द-स्पन्दीत्यत्र काम-कामिनीत्यत्र नकार-दकारयोः ककार-मकारयोरप्यनेकस्य सकृत् साम्यम् ।

एकस्याप्यसकृत्परः ॥ (का० ७९, च० पा०)

अपिशब्दादनेकस्य व्यञ्जनस्य वा द्विर्बहुकृत्वो वा सादृश्यं वृत्त्यनुप्रासः । वृत्तिर्विभजते । तत्र —

†माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैर्वैदर्भी रीतिरिष्यते ।
ओजःप्रकाशकैर्गौडी पाञ्चाली तैस्तथा परैः ॥ (मू० का० ८०)

सर्वत्र प्रागुदाहृतम् — 'अनङ्गरङ्गप्रतिम'मित्यादिना, 'मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ते'त्यादिना, 'अपसारय घनसार'मित्यादिना च ।

शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः । (मू० का० ८१, उ०)

पूर्वं तु वर्णानुप्रासो दर्शितः, अयं तु शब्दानुप्रासः । शाब्दः शब्दगतोऽनुप्रासः । शब्द्यते प्रकाश्यते अनेन । शाब्दश्च पदं प्रातिपदिकं च । लाटानुप्रासः पुनः शाब्दः शब्दगतो न वर्णगत इत्यर्थः । अतः छेकवृत्तिभ्यामस्य भेदः ।

पदानां सः,

लाटानुप्रासः । प्रागुदाहृतम् 'यस्य न सविधे दयिते'त्यादि ।

पदस्यापि; (का० ८२, प्र० पा०)

उदा० —

वदनं वरवर्णिन्यास्तस्याः सत्यं सुधाकरः ।
सुधाकरः क्व नु पुनः कलङ्कविकलो भवेत् ॥

तस्या वरवर्णिन्या उत्तमाङ्गनायाः वदनं मुखं सुधाकरश्चन्द्रः इति सत्यं यथार्थम् । पुनः सुधाकरः चन्द्रः कलङ्कविकलो लाञ्छनमलिनः तस्या वदनं क्व भवेन्न भवेदित्यर्थः ।

वृत्तावन्यत्र तत्र वा । („ द्वि० पा०)

नाम्नः स वृत्त्यवृत्त्योश्च, („ तृ० पा०)

एकस्मिन् समासे भिन्ने वा समासे समासासमासयोर्वा नाम्नः प्रातिपदिकस्य न तु पदस्य सारूप्यम् । प्रत्ययरहितस्यैव प्रातिपदिकत्वात् । यथा —

---

† मुद्रितपुस्तकेषु तु — "माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते ।
ओजःप्रकाशकैस्तैस्तु परुषा कोमला परैः ।"
एतादृशः पाठः पठ्यते ।

सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार धरणिधव कीर्त्तिः ।
पौरुषकमला कमला साऽपि तवैवास्ति नान्यस्य ॥

हे विभाकराकार सूर्य—(पृ० ४४, १) सदृश ! धरणेः पृथिव्या धव स्वामिन् ! तव कीर्त्तिः अस्ति वर्त्तते । कीदृशी ? सितकरश्चन्द्रस्तस्य करः किरणस्तद्वत् रुचिरा मनोहरा विभा कान्तिर्यस्याः । पौरुषकमला पौरुषलक्ष्मीः, कमला लक्ष्मीः साऽपि प्रसिद्धा तवैवास्ति नान्यस्य पुंस इत्यर्थः ।

तदेवं पञ्चधा मतः ॥ (का० ८१, च० पा०)

अथानुप्रासः ।

अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः । (का० ८३, पू०)
यमकम्,

अर्थभिन्नानामित्येकार्थभिन्नानामित्यर्थः । तेन लाटानुप्रासे न प्रसङ्गः । उभयोरेकस्य वा निरर्थकत्वे संग्रहः । अत्र श्रुतिसाम्यं प्रयोजकम् । तेन वर्णभेदे श्रुत्येकत्वेऽपि यमकम् । यथा—'समरसमरसोऽय'मित्यादेः, सेति सरोरस इत्यादिवैलक्षण्येन तेनैव क्रमेण स्थितता ।

पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम् ॥ (का० ८३, उ०)

पादः चतुर्थांशः, तद्भागस्तदर्द्ध-तदर्द्धादिरूपः । क्रमेणोदा०—यथा—

अचल एष बिभर्ति निरन्तरं मृदुलतामहतीरसभावनम् ।
वहति चात्र वने युवतीगणो मृदुलतामहतीरसभावनम् ॥

यथा—

यदानतोऽयदानतो नयात्ययं न यात्ययम् ।
शिवेहितां शिवे हितां स्मरामितां स्मरामि ताम् ॥

तारतारतरैरेतैरुत्तरोत्तरतो रुतैः ।
रताचां तित्तिरी रौति तीरे तीरे तरौ तरौ ॥

एवं अर्द्धावृत्ति-श्लोकावृत्तिभेदा द्रष्टव्याः ।

वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः ।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसौ [अक्षरादिभिरष्टधा ॥]
(का० ८४)

अर्थभेदेन शब्दभेद इति दर्शने काव्ये स्वरो न गण्यते,—इति च नये वाच्यभेदेन भिन्ना अपि यद् युगपदुच्चारणेन श्लिष्यन्ति भिन्नं स्वरूपमपह्नुवते स श्लेषः । ननु अगृहीतभिन्नस्वरूपत्वं श्लेषणं दोषाद् भेदाग्रहे अयमलङ्कारस्तत्र को दोष इत्यत आह—युगपदिति । युगपद्भाषणमेकोच्चारणमेव तस्य स्पर्शस्तद्विषयत्वम्, तथा च स एव दोष इत्यर्थः । तथा च शब्दानां मिथोभेदस्तत्रोच्चारणेन दोषेण न गृह्यत इति स श्लेषः । अर्थप्रतीत्य-

नन्तरं गृह्यमाणस्तु भेदो न किञ्चित् कुरुत इति वाच्यभेद [पृ० ४४, २] इति। वैयाकरणै-स्त्रिविधाः शब्दा भिद्यन्ते—रूपतः, स्वरतः, अर्थतश्चेत्युच्यते । वाच्यः शब्दोच्चारणानन्तरं प्रत्येयो न त्वभिधेयः। तेन श्वेतो धावतीत्यत्र नाव्याप्तिः। अन्यथा श्वेतगुणवत् कुक्कुरसमीपवर्ते-शसयोरेकस्यापि वाच्यताविरहेण श्लेषो न स्यात् । गुणवति श्वेतशब्दस्य लाक्षणिकत्वात् अत्राभिधा, अनियन्त्रणेन व्यञ्जनावसरः। तस्मान्नानार्थेषु यत्र युगपत् प्रकरणादिकमवतरति तत्र श्लेषः, यत्र क्रमेण तत्रावृत्तिः, यत्रैकत्रैव तत्र व्यञ्जनेति व्यवस्थितिः। यथा—

महत्या गदया युक्तः सत्यभामासमन्वितः।
भवान् वा भगवान् वाऽपि गतो भेदः परस्परम् ॥

अयं सभङ्गश्लेषः। अभङ्गश्लेषो यथा—

योऽसकृत् परगोत्राणां पक्षच्छेदक्षणक्षमः।
शतकोटिदतां बिभ्रद् विबुधेन्द्रः स राजते ॥

स विबुधेन्द्रः पण्डितश्रेष्ठः राजते शोभते। स कः? यः असकृद् वारंवारं परगोत्राणां शत्रुसन्तानानां पक्षस्य बलस्य च्छेदे नाशे क्षणेनैव क्षमः समर्थः। छेदरूपे क्षणे उत्सवे क्षमो योग्य इति कश्चित्। शतकोटीर्ददातीति शतकोटिदस्तस्य भावस्तत्ता तां बिभ्रद् धारयन्। पक्षे—स विबुधेन्द्रो देवश्रेष्ठः इन्द्रो राजते शोभते। यः परगोत्राणां परे शत्रवो ये गां पृथिवीं त्रायन्त इति गोत्राः पर्वतास्तेषां पक्षस्य च्छेदः कर्त्तनं तेन यः क्षण उत्सवः तत्र क्षमो योग्यः। शतकोटिना वज्रेण द्यति खण्डयतीति शतकोटिदस्तस्य भावः शतकोटिदता तां बिभ्रद् दधान इत्यर्थः। अत्र अभिधानियन्त्रणाभावात् द्वावप्यर्थौ वाच्यौ। अयं शब्दश्लेषः। अत्र शब्दाः परिवृत्तिं न सहन्ते। यत्र तु शब्दाः परिवृत्तिं सहन्ते सोऽर्थश्लेषः। यथा—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्।
अहो सुसदृशी वृत्तिः तुलाकोटेः खलस्य च ॥

उन्नतिं ऊर्ध्वगतिं पक्षे आनन्दम्, अधोगतिं नम्रतां दुःखं च, अहो इत्याश्चर्ये। अत्र अल्पेनोद्रेकमायातीति पाठे भवति [पृ० ४५, १] श्लेषः। इत्यर्थश्लेषोऽयम्। एवम्—

'सकलकलं पुरमेतज्जातं संप्रति सुधांशुबिम्बमिव।'

एतत्पुरं नगरं सकलकलं कलकलेन कोलाहलेन सहितं जातम्। किमिव? सुधांशुबिम्बमिव। तदपि कीदृशम्? सकलाः समस्ताः कलाः चन्द्रकला यत्र तादृशं संपूर्णमित्यर्थः। इत्यादौ श्लेषप्रतिभाहेतुरुपमा, न तु उपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः। यतः श्लेषस्यैव साम्यनिर्वाहकता, न तु साम्यस्य श्लेषनिर्वाहकता। श्लेषबन्धतः प्राक् साम्यस्य अनुपस्थितेः। अत्र सकलकलं एव साधारणो धर्मः। अथवा सकलकलत्वयोरेकशब्दवाच्यत्वेन साजात्यमित्यर्थः। एवम्—

'अबिन्दुसुन्दरी नित्यं गलल्लावण्यबिन्दुका।'

इत्यादौ श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुर्विरोधः, न तु विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः। श्लेषे हि अर्थद्वयस्य अन्वयबोधविषयत्वम्। इह त्वेकस्यैव, अन्यस्य तूपस्थितिमात्रम्।
तथा 'सद्वंशमुक्तामणिः'—सद्वंशः समीचीनं कुलं स एव वंशो वेणुस्तत्र मुक्तामणिरित्यर्थः।

'नालदशकविरिव [स्वप्न] श्लोको देव! महान् भवान्।'

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः॥

सन्ध्या प्रातःसन्ध्या अनुरागवती लौहित्यवती प्रेमवती च। दिवसो दिनं तस्याः सन्ध्यायाः पुरःसरोऽग्रेसरः संमुखश्च। अहो आश्चर्ये। दैवगतिः विधातृरीतिः, चित्रविचित्रा, तथापि समागमः संयोगो नेत्यर्थः। इत्यादौ परस्परितरूपकस्य व्यतिरेकसमासोक्तिषु श्लेषस्य निर्वाहकता, न तु श्लेषे विश्रान्तिरिति।

अत्र चित्रभेदानाह—

तच्चित्रं यत्र वर्णानां पद्म(खड्गा)द्याकारहेतुता॥ (का० ८५, उ०)

ननु वर्णानां कथं खड्गाद्याकारतेति चेत्, न। संनिवेशविशेषेण यत्र न्यस्ता वर्णाः पद्मखड्गाद्याकारतामुल्लासयन्ति, लिखिताक्षराणां तथात्वात्, तेन सहाभेदोपचारेण। खड्गादिबन्धानां वर्णाश्रयता यत्रालङ्कारे तत्। कष्टं काव्यमेतत्। यथा—

भासते प्रतिभा [१. ४५. २] सार रसाभाताहताविभा।
भावितात्मा शुभा वादे देवाभा बत ते सभा॥

पद्मबन्धः। अस्यार्थः—हे प्रतिभासार! तव सभा भासते रसेनाभाता रसिकेत्यर्थः। हताऽविभा अदीप्तिर्यस्याः। भावितो वशीकृतः आत्मा यया सा। वादे शुभा। देवाभा देवतुल्या। बत हर्षे।

रसासार रसा सारसायताक्ष क्षतायसा।
सातावात[त]वातासा रक्षतस्त्वस्त्वतक्षर॥

सर्वतो भद्रः। अस्यार्थः—रसासारेति सम्बोधनम्। हे पृथ्वि[सार]! रक्षतस्तव रसाऽस्तु। सारसः पक्षिभेदः जलजमिति वा तद्वद्दीर्घनेत्र! क्षतः अयः शुभावहो विधिर्यस्य तं सतीति रसाविशेषणम्। सातावात सातं नष्टं, अवातं अज्ञानं यस्य। वा गतीत्यादिधात्वनुसारात्, ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्थाः। तनूकरणं तक्षः तं राति प्राप्नोति तदितर! तु पुनरर्थे। एवमन्येऽपि खड्गबन्धादयोऽनुसर्तव्याः।

शब्दार्थोभयवृत्तित्वेन उभयोरलङ्कारयोर्मध्ये पुनरुक्तवदाभासं लक्षयति।

पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा।
एकार्थतेव, शब्दस्य. (का० ८६)

---

१ मु. पु. 'पद्माद्याकृतिहेतुता' इति पाठः।

विभिन्नरूपसार्थकानर्थकशब्दनिष्ठं पुनरुक्तस्येव पुनरुक्तवत् आभासो ज्ञानं एकार्थत्वेना-पाततो भा[स]नं पुनरुक्तवदाभासः । अर्थान्तरसङ्क्रमितेऽतिव्याप्तिवारणाय विभिन्नाकारेति विजातीयानुपूर्वीक इत्यर्थः । तत्र च नानुपूर्वीभेदः । विभजते — स च 'शब्दस्य —' केवलं शब्दनिष्ठः । यथा —

चकासत्यङ्गना रामाः कौतुकानन्दहेतवः ।
तस्य राज्ञः सुमनसो विबुधाः पार्श्ववर्त्तिनः ॥

अङ्गनासु रमत इत्यङ्गना रामाः विरहशून्याः । कौतुकेन विवाहसूत्रेण यः आनन्दः । विबुधाः पण्डिताः सुमनसः । अत्राङ्गनादिपदान्यखण्डान्येव ।

तथा शब्दार्थयोरयम् ॥ (का० ८६, च० पा०)

यथा — तनुवपुरजघन्योऽसौ करिकुञ्जररुधिररक्तखरनखरः ।
तेजोधाम महःपृथुमहसामिन्द्रो हरिर्जिष्णुः ॥

अस्यार्थः — तनुः शरीरं कृशश्च । अजघन्यः अप्रमेयबलः । करिणो गजाः प्रशस्तशुण्डाश्च । [पृ० ४६, १] रक्तं रुधिरं रक्तो वर्णविशेषनिष्ठश्च । तेजो बलविशेषः परोत्कर्षाक्षमता च । धाम तेजः स्थानं च । महस्तेजो बलविशेषश्च । हरिरिन्द्रः सिंहश्च । जिष्णुः कपीन्द्रो जयनशीलश्च । तनुवपुः कृशशरीरः । करिणां प्रशस्तशुण्डानां कुञ्जराणां रुधिरैः शोणितैः रक्ताः शोणाः खरास्तीक्ष्णा नखा यस्य । तेजसः परोत्कर्षाक्षमतायाः धाम स्थानम्, महो बलविशेषस्तेन पृथु प्रशस्तं मनो येषां तेषामिन्द्रः श्रेष्ठः । अत्रैकस्मिन् पदे तनुविरक्तेत्यादिरूपे परिवर्त्तिते नालङ्कार इति शब्दालङ्कारः । अपरस्मिन् वपुःकुञ्जरादिरुधिररूपे परिवर्त्तितेऽपि स न हीयत इत्यर्थनिष्ठः । इत्युभयालङ्कारोऽयं शब्दार्थयोर्मध्ये कथितः ॥

॥ इति पादशाह-श्रीअकब्बरसूर्यसहस्रनामाध्यापक-श्रीशत्रुञ्जयतीर्थकरमोचनाद्यनेकसुकृतविधापक-महोपाध्यायश्रीभानुचन्द्रगणिशिष्याष्टोत्तरशतावधानसाधनमहोपाध्यायश्रीसिद्धिचन्द्र-गणिविरचिते काव्यप्रकाशखण्डने नवम उल्लासः ॥

दशम उल्लासः ।

अथार्थालङ्कारानाह — चारुत्वोत्कर्षात् प्रथमं उपमां लक्षयति ।

साधर्म्यमुपमा भेदे, (का० ८७, प्र० पा०)

समानौ धर्मौ ययोः अर्थादुपमानोपमेययोः, तौ सधर्माणौ, तयोर्भावः साधर्म्यम् । समान-धर्मनिरूपितः सम्बन्धः । स एव उपमा समासोत्तरभाववाचिप्रत्ययस्य संबन्धाभिधायकत्वात् । यद्वा समानैर्बहुभिर्धर्मैः संबन्धः साधर्म्यम् । वस्तुतस्तु तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्व-मुपमेति निर्गलितार्थः । भेदग्रहणमनन्वयव्यवच्छेदाय ।

पूर्णा लुप्ता च,

उपमानोपमेयसाधारणधर्मोपमाप्रतिपादकानामुपादाने पूर्णा । एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा अनुपादाने लुप्ता ।

साऽग्रिमा ।

श्रौत्यार्थी च भवेद् वाक्ये समासे तद्धिते तथा ॥ (का० ८७)

यथे[व]वादिशब्दा यत्परास्तस्यैव श्रुत्यैव उपमानताप्रतीतिरिति । यथे[व]वादिशब्दसत्त्वे श्रौती तथैव 'तत्र तस्येवे'त्यनेन इवार्थे [पृ० ४६, २] विहितस्य वतेरुपादाने । सदृशतुल्यादिशब्दप्रयोगे 'सरसिजमिदमाननं च तस्याः सम'मित्यादौ प्रकृताप्रकृतपर्यालोचनयैव उपमानोपमेयप्रतीतिरित्यार्थी, 'तद्भतेन च तुल्य'मित्यादिना विहितस्य वतेः स्थितौ । 'इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोप' इति नित्यसमासे इवशब्दप्रयोगे समासगा । समासानुशासनप्रयोजनमग्निरिव राजा इत्यादौ । अत्रेदमवधातव्यम् – चन्द्र इव मुखमित्यत्र यज्जातीयधर्माश्रयश्चन्द्रः तज्जातीयधर्माश्रयो मुखमित्युपमेयविशेष्यकैव प्रतीतिः, न तु चन्द्रनिष्ठसजातीयधर्माश्रयो मुखमिति प्रकृतिविशेष्यक एव प्रत्ययः । तथा सति हंसीव धवलश्चन्द्र इत्यादौ प्रतीतिमान्थर्यविरहेण दोषो न स्यात् । हंसीनिष्ठधवलत्वसजातीयधवलवत्तया चन्द्रप्रतीतावनुभवसिद्धं मान्थर्यं न स्यात् । उभयविशेष्यकत्वे तु पुंस्त्वान्वितधवलपदस्य हंस्यामनन्वयेन चन्द्रमात्रान्वये विवक्षितप्रतीत्यनुपपत्तिर्दोषसंभव एवेति । चन्द्र इव मुखं आह्लादकं इत्यत्र आह्लादकत्वस्य उभयगामित्वेऽपि नपुंसकस्य मुखपदस्य लिङ्गग्रहणं नपुंसकानपुंसकयोरित्यनुशासनात् इति । क्रमेणोदाहरणानि –

उत्थाय हृदि लीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः ।
बालवैधव्यदग्धानां कुलस्त्रीणां यथा कुचाः ॥

चकितहरिणलोललोचनायाः क्रुधि नितरामरुणाभिरामशोभम्† ।
सरसिजमिदमाननं च तस्याः सममिति चेतसि संमदं विधत्ते ॥

तस्या नायिकाया इदमाननं मुखं सरसिजं कमलं च समं तुल्यमिति कृत्वा चेतसि मनसि संमदमानन्दं विधत्ते करोति । तस्याः कीदृश्याः? चकितश्चञ्चलो यो हरिणो मृगस्तद्वल्लोले चञ्चले लोचने यस्याः । आननं कीदृशम्? क्रुधि क्रोधकाले तरुणः कठोरो योऽरुणः सूर्यस्तद्वत्तारा उत्कटा हारिणी मनोहारिणी कान्तिर्दीप्तिर्यस्य [पृ० ४७, १] तत् । इयं च समशब्दयोगादार्थी –

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये । जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ ॥
आद्यन्त-मध्यरहितं दशाहीनं पुरातनम् । अद्वितीयमहं वन्दे मद्वस्त्रसदृशं हरिम् ॥

गाम्भीर्यगरिमा तस्य सत्यं गङ्गाभुजङ्गवत् ।
[दुरालोकः स समरे निदाघाम्बररत्नवत् ॥]

---

† मु. पु. 'क्रुधि तरुणारुणतारहारकान्ति' इति पाठो लभ्यते । अत्र च व्याख्याऽपि तथैव पाठानुसारिणी कृता दृश्यते ।

तद्धिते पूर्णां श्रौतीमुदाहरति । तस्य राज्ञो गाम्भीर्यस्य गरिमा गुरुत्वं गङ्गाया भुजङ्गः कामुकः समुद्रस्तद्वत् तस्येव । अत्र 'तत्र तस्येवे'त्यनेनेवार्थे वतेर्विधानाच्छ्रौतीत्वमालोकनीयम् । एवं क्यचि क्यङि णमुलि च भवत्युपमा । क्रमेणोदाहरणानि —

पौरं सुतीयति जनं समरान्तरेऽसावन्तः पुरीयति विचित्रचरित्रचञ्चुः ।
नारीयते समरसीम्नि कृपाणपाणावालोक्य तस्य ललितानि सपत्नसेना ॥

असौ राजा पौरं लोकं सुतीयति सुतमिवाचरति । उपमानादाचार इति कर्मणि क्यच् । संग्राममध्ये अन्तःपुर इवाचरति । अधिकरणाच्चेति क्यच् । तस्य चरितानि निरीक्ष्य शत्रुसेना संग्रामसीमनि नारीयते नारीवाचरति । कर्तुः क्यङ् सलोपश्चेति क्यङ् । णमुलि भेदद्वयं दर्शयति — मृधेति —

मृधे निदाघघर्मांशुदर्शं पश्यन्ति तं परे ।
स पुनः पार्थसञ्चारं सञ्चरत्यवनीपतिः ॥

मृधे संग्रामे परे शत्रवस्तं राजानं निदाघघर्मांशुदर्शं निदाघकालीनसूर्यमिव पश्यन्ति । स पुनरवनीपतिः राजा दीर्घसञ्चारं पार्थ इव सञ्चरति । अत्र 'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः ।'

अथ लुप्ता, तत्रैवादेर्लोपे यथा —

ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना ।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलङ्कृता ॥

द्विपदसमासे तावदुदाहरति । ततस्तदनन्तरं चन्द्रेण माहेन्द्री पूर्वा [पृ० ४७.२] दिक् अलङ्कृता शोभिता । कीदृशेन ? कुमुदानां नाथेन प्रकाशकेन कामिनीगण्डवत् पाण्डुना पाण्डुवर्णेन नेत्रानन्देन नयनसुखजनकेनेत्यर्थः । अत्र गण्डपाण्डुनेति द्वयोरेव पदयोः समासः । तथा धर्मवाद्योर्द्वयोर्लोपे यथा —

सविता विधवति विधुरपि सवितरति [तथा]दिनन्ति यामिन्यः ।
यामिनयन्ति दिनानि च सुखदुःखवशीकृते मनसि ॥

सुखमनुकूलवेदनीयम्, दुःखं प्रतिकूलवेदनीयम् । ताभ्यां व्याप्ते चित्ते सति, सविता सूर्यो विधवति विधुरिवाचरति । विधुश्चन्द्रः सवितरति सवितेवाचरति । यामिन्यो रात्रयो दिनन्ति दिनानीवाचरन्ति । दिनान्यपि दिवसान्यपि यामिनयन्ति यामिन्य इवाचरन्तीत्यर्थः । विधुरिवाचरतीत्याचारेऽर्थे क्विप् तल्लोपश्च । आचारार्थकक्विपो लोपात् धर्मानुपादानम् । एतयोर्लोपे — समासेऽपि, यथा — राजते राजकुञ्जरः — राजा कुञ्जर इव । त्रयाणां वादिधर्मोपमानानां लोपे भवत्युपमा । यथा — मृगनयना मानसं हरतीत्यादौ । 'सप्तम्युपमाने'त्यादिना यदा समासलोपौ ।

अनयेनेव राजश्रीर्दैन्येनेव मनस्विता ।
मम्लौ साऽथ(थ ?)विषादेन पद्मिनीव हिमाम्भसा ॥

एकस्यैव बहूपमानोपादाने मालोपमा । तथा यथोत्तरमुपमानस्योपमेयत्वे रस(श)नोपमा बोध्या । शृङ्खलान्यायेन पश्चाद् वलनया । यथा –

मतिरिव मूर्तिर्मधुरा मूर्तिरिव सभा प्रभावचिता ।
तस्य सभेव जयश्रीः शक्या जेतुं नृपस्य न परेषाम् ॥

एवमन्यदपि बोध्यम् ।

उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे ।
अनन्वयः

उपमानत्वं उपमेयत्वं चेत्यर्थः । उपमेयोपमावारणाय एकवाक्यग इति । उपमानान्तरसम्बन्धः अन्वयस्तदभावोऽनन्वयः । अतोऽत्र उपमानान्तरव्यवच्छेदेन चमत्कार इति उपमातोऽस्य भेदः । यथा –

रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ।

विपर्यास उपमेयोपमा[पृ० ४८.१]**तयोः** ॥ (का० ९१, उ०)

तयोः उपमानोपमेययोः । विपर्यासः परिवृत्तिः अर्थात् वाक्यद्वये । उपमेयेन उपमा उपमेयोपमा । यथा –

कमलेव मतिर्मतिरिव कमला, तनुरिव विभा विभेव तनुः ।
धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी सततं विभाति बत यस्य ॥

यस्य मतिर्बुद्धिः कमलेव लक्ष्मीरिव । कमला लक्ष्मीर्मतिरिव बुद्धिरिव । विभा कान्तिः तनुरिव शरीरमिव । तनुः शरीरं विभेव कान्तिरिव । धृतिर्धैर्यं धरणीव पृथ्वीव । धरणी पृथ्वी धृतिरिव धैर्यमिव सततं निरन्तरं विभाति शोभत इत्यर्थः ।

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः । (का० ९३, पू०)

अथवा उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमिष्यते । यथा –

अथ लक्ष्मणानुगतकान्तवपुर्जलधिं व्यतीत्य स दाशरथिः ।
परिवारितः परित ऋक्षगणैस्तिमिरौघराक्षसबलं बिभेदे ॥

माला तु पूर्ववत् । (का० ९४, च० पा०)

मालोपमायामिव एकस्मिन् बहव आरोपिताः, तदा मालारूपकम् । यथा –

रूपामृतस्य वापिकाऽपि जयश्रीरनङ्गस्य ।
विभ्रमरसैकसंपद् जयति जनानन्दकन्दली बाला ॥

संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् । (का० ९२, पू०)

समेन उपमानेन । समेनेत्यनन्तरम्, ऐक्यरूपेणेति शेषः । तथा च समेन उपमानैनैक्यरूपेण संभावनमुत्प्रेक्षेत्यर्थः । संभावनं उत्कटकोटिकः संदेहः । अयं चन्द्र एव भविष्यतीत्याकारः । यथा –

अजस्रमास्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया ।
पुरः प्रवालैरिव पूरितार्द्धया विभान्तमच्छस्फटिकाक्षमालया ॥

ससंदेहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ तु संशयः ॥ (का० १२, उ०)

प्रकृतस्य समेनेत्यनुवर्तते । तु भिन्नक्रमे । तदिति लिङ्गव्यत्ययात् संशय इत्यनेनान्वेति । तथा च—समेन प्रकृतस्य संशयस्तु यः ससंदेहनामालङ्कारः । अत्रोपमानोपमेययोरतिशयार्थं विप्रतिपत्तयः प्रादुर्भवन्ति ससंदेह अलङ्कारः, न तु स्थाणुपुरुषयोः भेदोक्तौ । यथा—

गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः [पृ० ४८, २] प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः ।
पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः ॥

तदनुक्तौ यथा—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूचन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥

अत्र वेदाभ्यसनेन सर्गानभिज्ञत्वमुक्तम् । विषयव्यावृत्तेत्यनेन शृङ्गाररसाकौशलत्वमुक्तम् । मनोहरमित्यनेन कान्तिदानाशक्तिरुक्ता । पुराणमित्यनेन निर्माणेऽनिच्छोक्ता । यतो 'वृद्धस्य तरुणी विषमि'त्युक्तम् ।

नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यः ।
तत्परंपरितं श्लिष्टे वाचके भेदभाजि वा ॥ (का० ९५)

यथा—

विद्वन्मानसहंस वैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते
दुर्गामार्गणनीललोहित समित्स्वीकारवैश्वानर ।
सत्यप्रीतिविधानदक्ष विजयप्राग्भावभीम प्रभो
साम्राज्यं वरवीर वत्स(वत्स)रशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः ॥

विदुषां पण्डितानां मानसमन्तःकरणमेव मानसं सरोविशेषस्तत्र हंस ! वैरिणां शत्रूणां कमलाया लक्ष्म्याः संकोच एव कमलानां पद्मानामसंकोचो विकासस्तत्र दीप्तद्युते सूर्य !, दुर्गाणां कोट्टलक्षणानां अमार्गणं अनन्वेषणमेव दुर्गाया भवान्या मानवत्या मार्गणं अन्वेषणं तत्र नीललोहित शिवस्वरूप !, समितां संग्रामाणां स्वीकारोऽङ्गीकार एव समिधां हवनीयानां स्वीकारस्तत्र वैश्वानर अग्ने ! सत्ये यथार्थे प्रीतिः प्रेमैव सत्यां सतीनामिकायां कन्यायां या अप्रीतिर्द्वेषस्तस्या विधानं आचरणं तत्र दक्ष दक्षनामकप्रजापते !, विजयः परपराभव एव विजयोऽर्जुनः तस्मात्प्राग्भावः प्रागुत्पत्तिस्तत्र भीम भीमसेन ! प्रभो समर्थ ! वरवीर उत्कृष्टवीर !

---

१ 'भावकाव्ये पद्यमिदम्' इति टि० । २ 'केवलवेदी भवेद् वृष इत्युक्तेरिति भावः ।' इति टि० ।

वैरिश्चं ब्रह्मसम्बन्धि वत्सरशतं व्याप्य साम्राज्यं उच्चैरत्यर्थं क्रियाः विदध्यादित्यर्थः । मानसमेव मानसं सरः, कमलायाः लक्ष्म्याः संकोच एव कमलानामसंकोचः, दुर्गाणाममार्गणं [पृ. ४९.१] एव दुर्गाणां मार्गणम्, समितां स्वीकार एव समिधां स्वीकारः, सत्ये प्रीतिरेव सत्याम्प्रीतिः, विजय एव पराभव एव विजयोऽर्जुनः — एवमारोपणनिमित्तो हंसादेरारोपः । यद्यपि शब्दालङ्कारेऽयं तथापि प्रतिपत्तिसौकर्यायोक्तः ।

भेदभाजि यथा —

> आलानं जयकरिणः प्रतापतपनस्य पूर्वाद्रिः ।
> सेतुर्विपत्तिजलधेर्धरणिभुजस्ते भुजो जयति ॥

हे राजन् ! ते तव भुजो बाहुः जयति । कीदृशः ? जयः परपराभव एव करी हस्ती, तस्यालानं बन्धनस्तम्भः । विपद्वारिधेः विपत्तिसमुद्रस्य दृषदां पाषाणानां सेतुः । प्रतापसूर्यस्य पूर्वाद्रिरुदयगिरिः । कीदृशस्य ते ? धरणीं भुनक्तीति धरणीभुक् तस्य । अत्र जयादेर्भिन्नशब्दवाच्यस्य करित्वाद्यारोपे भुजस्यालानताद्यारोपो युज्यते । मालाऽपि पूर्ववद् बोध्या ।

प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः । (का० ९६, पू०)

निषिध्य उपमेयमसत्यं कृत्वा । यथा —

> स्फुटनीलोत्पलपटलं सुधामयूखे सुधासरसि ।
> मन्यामहे नितम्बिनि ! नैष कलङ्कः परिस्फुरति ॥

एवं भङ्ग्यन्तरैरप्यूह्या ।

> द्योतयित्वा कमप्यर्थं गोपनीयं कथञ्चन ।
> यदि श्लेषेणान्यथा वान्यथयेत् सा त्वपह्नुतिः ॥

यथा कालेऽस्मिन् जलदानामिति प्रागुक्तम् ।

श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत् ॥ (का० ९६, उ०)

यत्र शक्यभेदेन शब्दभेदः, तत्र शब्दश्लेषः । यथादर्शिते नानार्थे श्लिष्टे च । यत्रैकार्थः [शक्यो] अपरोऽर्थो निरूढलक्षणया प्राप्यते तत्रार्थश्लेषः । यथा —

> उदयमयते दिङ्मालिन्यं निराकुरुतेतरां
> नयति नलिनी(निधनं) निद्रामुद्रां प्रवर्त्तयति क्रियाः (यां) ।
> रचयतितरां स्वैराचारप्रवर्त्तनकर्त्तनं
> बत बत लसत्तेजःपुञ्जो विभाति विभाकरः ॥

विभाकरः सूर्यः राज्याभिषेककाले पुरोहितादिभिः तत्तुल्यत्वेन प्रतापरुद्रादिवत् संकेतितो नृपविशेषश्च । उदयं पूर्वाचलं संपदं च । दिशो मालिन्यं अन्धकारः दिश्यानां जनानां कुवेषत्वं वा । निद्रा मनःसंमीलनं निरुत्साहता [पृ० ४९.२] च । क्रियां गमनादिकां सदाचारं च । स्वैराचारोऽभिसारादि वेदानुल्लङ्घ्य स्वेच्छाचरणं च । तेजसां रश्मीनां पुञ्जः, मनागपि स्वावमाननाक्षमता च ।

परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः, (का० ९७, पू०)

भेदकैः विशेषणैः श्लिष्टैः प्रकृताप्रकृतसाधारणैः। प्रकृतार्थप्रतिपादकेन वाक्येन श्लिष्टानां प्रकृतसाधारणानां भेदकानां विशेषणानां माहात्म्यात्, न तु विशेषसामर्थ्यादपि यदप्रकृत-स्याभिधानं व्यञ्जनं सा समासेन संक्षेपेण अर्थद्वयस्य कथनात् समासोक्तिः। यथा—

लहिऊण [तु]ह(ज्झ) बाहुप्फंसं जीये स कोवि उल्लासो।
जयलच्छी तुह विरहे न उज्जला दुब्बला ननु सा॥

अत्र तत्तद्विशेषणसामर्थ्यात् जयलक्ष्मीव्यवहारे कान्ताव्यवहारस्य आरोप्यमाणस्य चमत्कारितेति। इयमेवान्यैरेकदेशविवर्तिरूपकमिति भण्यते।

निदर्शना।

अभवद्वस्तुसम्बन्धः उपमापरिकल्पकः॥ (का० ९७, उ०)

उपमानोपमेयभावे पर्यवसित इत्यर्थः। तस्य वाक्य-पदार्थभेदात् द्वैविध्यम्। तत्राद्यमुदा-हरति—'क्व सूर्यप्रभव' इत्यादिना। अत्राल्पविषयया मन्मत्या सूर्यवंशवर्णनं न स्यादित्येको वाक्यार्थः। अपरस्तु उडुपेन सागरतरणम्। न चोपमानोपमेयभावं विना अनयोः सम्बन्धः संभवतीति उपमायां पर्यवसानम्। द्वितीयो यथा—

अस्या मुखस्य लीलां वहति शरत्शर्वरीनाथः।

अत्र कथमन्यस्य लीलां अन्यो वहतीत्युपमायां पर्यवसानम्। पूर्ववन्मालाऽपि बोध्या।

अप्रस्तुतप्रशंसा या [सा] सैव प्रस्तुताश्रया॥ (का० ९८, उ०)

अप्रस्तुतस्य अप्रकृतस्य प्रशंसा वर्णना। अप्राकरणिकार्थाभिधानेन प्राकरणिकार्थस्याक्षेपोऽ-प्रस्तुतप्रशंसा। अस्या बहुविषयत्वेऽपि तुल्ये प्रस्तुते तुल्यान्तरस्याभिधाने अतीवचमत्कार इति तदेवोदाह्रियते—यथा—

अविततमोऽन्धकूपगर्भादिदमुदधारि करेण येन विश्वम्।
चरमगिरिगभीरगह्वरान्तः पतति स एष न [पृ० ५०. १] कश्चिदीक्षतेऽपि॥

अत्र अप्रस्तुतस्य तथाविधस्य रवेरभिधानेन प्रकृतानेकोपकारस्य कस्यचिन्महापुरुषस्य दुर्दशायां केनापि किञ्चिन्नोपकृतमित्याक्षिप्यते। एवमन्यत्रापि बोध्यम्।

निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत्।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्॥ (का० १००)
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः।
विज्ञेयातिशयोक्तिः सा. (का० १०१)

अस्याः सामान्यलक्षणम्—अतिशयप्रतिपत्तये अन्यस्य अन्यतादात्म्योक्तिरूपं निगरणं प्रकृतनिष्ठासाधारणधर्मस्य अविषयीका(क)रणम्। तच्च चन्द्र इत्यत्र चन्द्र एवायं इत्यत्र च

संभवति । प्रकृतं निगीर्य असाधारणधर्मेण अनुक्त्वा तेन रूपकाद् व्यवच्छेदः । अध्यवसा-[नं] स्वतादात्म्येनाध्यवसायः । यथा —

लतामूले लीनो हरिणपरिहीनो हिमकरः
स्वयं हाराकारा गलति जलधारा कुवलयात् ।
धुनीते बन्धूकं तिलकुसुमजन्माऽपि पवनो
गृहद्वारे पुण्यं परिणमति कस्यापि कृतिनः ॥

यत्र तदेवान्यत्वेनाध्यवसीयते सा अपरा ।

अन्यदेव हि लावण्यमन्यैवास्याः स्तनद्युतिः ।
तन्मन्ये रचना नैषा सामान्यस्य प्रजापतेः ॥

यदर्थस्य यदि शब्देन चेच्छब्दे वा यत् कल्पनं अर्थादसंभाविनोऽर्थस्य सा तृतीया । यथा —

उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम् ।
तेनोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः ॥

कारणस्य शीघ्रकारितां वक्तुं कार्यस्य पूर्वोक्तौ समानकालोक्तौ च चतुर्थी । यथा —

हृदयमधिष्ठितमादौ मालत्याः[1] कुसुमचापबाणेन ।
चरमं रमणीवल्लभलोचनविषयं त्वया नीता[†] ॥

मालत्या मालतीनाम्न्याः नायिकायाः हृदयं कुसुमबाणेन कामेनादौ प्रथमतः अधिष्ठित-माश्रितम् । हे रमणीवल्लभ ! त्वया चरमं पश्चादधिष्ठितम् । त्वया कीदृशेन ? लोचनविषयं नेत्रपात्रतां भजता गच्छतेत्यर्थः । अत्र राजदर्शनेन हृदये मदनवेदनेति [पृ० ५०,२] तयोर्वै-परीत्यवर्णनमिति । समानकालोक्तौ यथा —

'सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना' — इत्यादौ ।

प्रतिवस्तूपमा तु सा । (का० १०१, उ० पा०)
सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः ॥
(का० १०२, पू०)

सामान्यस्य साधारणधर्मस्य वाक्यद्वये उपमानवाक्ये उपमेयवाक्ये च । यथा —

देवीभावं गमिता परिवारपदं कथं भजत्येषा ।
न खलु परिभोगयोग्यं दैवतरूपाङ्कितं रत्नम् ॥

एषा देवीभावं कृताभिषेकत्वं प्रापिता परिजनपदवाच्यतां कथं भजति ? नेत्यर्थः । खलु निश्चितं दैवतरूपेण देवतामूर्त्या अङ्कितं चिह्नितं रत्नं न परिभोगयोग्यं हस्ताद्यलङ्करण-योग्यमित्यर्थः । अत्र कथमित्यनेन न खलु इत्यनेन च अनौचित्यं प्रत्याय्यते इत्येकस्यैव अनौचित्यरूपसामान्यस्य द्विरुपादानम् । 'यदि दहत्यनिल' इत्यत्र मालारूपा चैषा बोध्या ।

---

१ मु. पु. सर्वत्र 'मालत्या' — 'मालती' शब्दो लभ्यते । † 'भजतेत्यपि पाठः' इति टि० ।

दृष्टान्तः पुनरेतेषां [सर्वेषां]प्रतिबिम्बनम् ॥ (का० १०२, उ०)

एतेषां साधारणधर्मादीनां प्रतिबिम्बनं विशिष्टोपमा । यथा 'दर्पान्धगन्धगजकुम्भ' इति । दृष्टो निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः । गृहीतप्रामाण्यकः । यत्र दृष्टान्तवाक्येन दार्ष्टान्तिकवाक्यार्थनिश्चयस्य प्रामाण्यग्रहो भवतीत्यर्थः । यथा –

त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वृत्ति(निर्वाति) मनो मनोभवज्वलितम् ।
आलोके हि हिमांशोर्विकसति कुसुमं कुमुद्वत्याः ॥

सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥ (का० १०३)

धर्मस्य सकृद्वृत्तिरुपादानं सैव सकृद्वृत्तिर्बह्वीषु क्रियासु सतीष्वित्यर्थः । क्रियास्वित्यादिशब्दात् गुणपरिग्रहः । धर्मस्य क्रियादिरूपस्य एकस्य सकृद्दीपनाद् दीपकम् । यथा –

किविणाण धणं नाआण फणमणी केसराइँ सीहाणं ।
कुलबालिआण थणआ कुत्तो छिप्पंति अमुआणं ॥

अत्र स्पृश्यन्ति इति क्रिया सकृदुपात्ता । एवं बह्वीषु क्रियासु एकस्य कारकस्योपादानं बोध्यम् ।

मालादीपकमाद्यं चेद् यथोत्तरगुणावहम् । (का० १४, पू०)

पूर्वेण पूर्वेण वस्तुना उत्त [पृ० ५१,१] रोत्तरमुपक्रियते तन्मालादीपकम् । यथा –

संग्रामाङ्गणसंगतेन भवता चापे समारोपिते
संप्राप्ते परिपन्थियोधनिवहे सांमुख्यमासादितम्[†] ।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं
तेन त्वं भवता च कीर्त्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥

अत्र निःसपत्नभूलोकत्रयव्यापिकीर्तिलाभात्नृपोत्कर्षः प्रतीयते । तत्र पूर्वे यथायोगं उत्तरोत्तरोपकारकाः नियतानां प्राकरणिकानामेव अप्राकरणिकानामेव वा वृत्तिरित्यनुवर्तते । अर्थवशाद् विभक्तिविपरिणामः वर्तते, उपादीयते सकृद् धर्म इत्यर्थः । यथा –

पाण्डु क्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः ।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि ! हृदन्तः ॥

अत्र विरहानुभावत्वेन प्रकृतानां पाण्डुतादीनां सकृदुपात्तानां वेदनक्रियायामन्वयः । क्षेत्रियरोगो यावद् देहभावी देहान्तरचिकित्सः । एवमप्रकृतानामपि ।

उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः । (का० १०५, पू०)

अन्यस्य उपमेयस्य व्यतिरेकः आधिक्यम् । यथा –

---

1 मु. पु. "मागतेन' इति पाठः । † मु. पु. अयं पाद इत्थपाठात्मको लभ्यते –
'वेगाकर्णय येन येन सहसा यद्यत् समासादितम् ।'

इयं सुनयना दासी कृततामरसश्रिया ।
आननेनाकलङ्केन जयन्तीन्दुं कलङ्किनम् ॥

इयं नायिका सुनयना शोभननेत्रा अकलङ्केन निर्दूषणेन आननेन मुखेन कलङ्किनं कलङ्कयुक्तं इन्दुं चन्द्रं जयति । आननेन कीदृशेन ? दासीकृता तामरसस्य पद्मस्य श्रीः शोभा येनेत्यर्थः ।

आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमान(मेय)ता ।
तस्यैव यदि वा कल्पा(ल्प्या) तिरस्कारनिबन्धनम् ॥

(का० १३३)

इत्युभयरूपस्य प्रतीपस्यात्र व्यतिरेक एवान्तर्भावः । यथा —

लावण्यौकसि राजनि राजत्यस्मिन् किमिन्दुबिम्बेन ।

द्वितीयं यथा —

शृणु सखि ! तव वचनीयं तव वदनेनोपमीयते चन्द्रः ।

अत्रोपमेयस्य न्यूनतायामपि व्यतिरेकमिच्छन्ति । यथा —

हनूमताद्यैर्यशसा मया पुनर्द्विषां हसैः दूत्यपथः सितीकृतः ।

तथा —

मयाप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता ।

इत्यादिषु ।

निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो [पृ० ५१,२] **विशेषाभिधित्सया ॥**

(का० १०६, उ०)

वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः । (का० १०७, पू०)

वक्तुमिष्टस्य निषेध इति सामान्यलक्षणम् । वक्ष्यमाणेत्यादिविशेषद्वयं वक्तुमिष्टस्य विवक्षितस्य अवश्यवक्तव्यत्वं अतिप्रसिद्धत्वं वा । वक्तुं निषेधो निषेध इव यः स यथाक्रमं वक्ष्यमाणविषयः उक्तविषयश्चेति द्विविध आक्षेपः । यथा —

अऍ एहि[किं पि] तीया(कीए)वि कये णिकिव भणामि अलमह वा ।
अविआरिअकज्जारंभआरिणी मरउ ण भणिस्सं ॥

[अये एहि किमपि कस्या अपि कृते निःकृप भणामि [अलमथ वा] ।
अविचारितकार्यारम्भकारिणी म्रियतां न पुनर्भणिष्यामि ॥]

न भणिष्यामीति पौनरुक्त्यं खेदातिशयपोषकम् । अत्रोद्देश्यनायिकादुरवस्थानिवेदनस्य वक्ष्यमाणाया वा मरणावस्थाया अभिधानस्य अलमित्यादिनिषेधो अशक्यवक्तव्यत्वमस्या व्यञ्जयति ।

ज्योत्स्नाचन्दनमाला हालाहलतां परिप्राप्ताः ।
संप्रति सुदृशो हन्ताऽनेन किमुक्तेन न ब्रूमः ॥

न ब्रूम इति निषेधो विरहे शीतलानामपि दुरुत्सहत्वस्य अतिप्रसिद्धत्वं व्यनक्ति ।

क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ॥ (का० १०७, पू०)

क्रिया कारकव्यापारः प्रसिद्धसामग्रीनिषेधेऽपि तत्कार्यरूपफलस्याभिव्यक्तिर्विभावना । अप्रसिद्धं कारणमाक्षिपतीति न विरोधः । वैयाकरणाः क्रियाया एव हेतुतां मन्यन्ते । तथा च हेतुरूपक्रियाप्रतिषेधेऽपि तत्फलप्रकाशनं विभावना । वस्तुतस्तु कारणप्रतिषेधेऽपि कार्यवचनं विभावनेत्यन्ये । यथा—

कुसुमितलताभिरहताऽप्यधत्त रुजमलिकुलैरदष्टाऽपि ।
परिवर्तते स्म नलिनी लहरीभिरनालोडिताऽप्यघूर्णत सा ॥

सा नलिनी कुसुमितलताभिरहताऽपि रुजं ग्लानिं अधत्त । अलिकुलैरदष्टापि परिवर्तते स्म संकुचिता । लहरीभिरनालोडिताऽपि अघूर्णत बभ्रामेत्यर्थः । अत्र लताहननादिकं हेतुस्तदभावेऽपि पीडादिधारणं कार्यमुक्तमिति प्रकृतोदाहरणता ।

विशेषोक्तिरखण्डेषु [पृ० ५२,१] **कारणेषु फलावचः ।** (का० १०८, पू०)

फलावचः कार्यानभिधानम् । अत्राप्यप्रसिद्धं कारणं सिद्ध्यतीति न विरोधः । यथा—

निशात्ययव्यञ्ज(ञ्जि ?)नि पङ्कजानामामोदभेदस्विनि गन्धवाहे ।
न मुञ्चते कैतवबद्धनिद्रावन्योऽन्यकण्ठग्रहणं युवानौ ॥

यथासङ्ख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ॥ (का० १०८, उ०)

यथासङ्ख्यमिति यथासङ्ख्यनामालङ्कार इत्यर्थः । क्रमेण पूर्वस्य पूर्वेण मध्यमस्य मध्यमेन अन्त्यस्य अन्त्येनेत्यर्थः । यथा—

एकस्त्रिधा वससि चेतसि चित्रमेतत् देव द्विषां च विदुषां च मृगीदृशां च ।
तापं च संमदरसं च रतिं च पुष्णन् शौर्योष्मणा च विनयेन च लीलया च ॥

देव ! द्विषां चेतसि शौर्योष्मणा तापं पुष्णन्, विदुषां चेतसि विनयेन संमदरसं पुष्णन्, मृगीदृशां चेतसि लीलया रतिं पुष्णन् एको विष्णुस्त्रिधा चेतसि वससीत्यर्थः ।

सामान्यं वा विशेषो वा यदाऽन्येन समर्थ्यते ।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥ (का० १०९)

अनुपपद्यमानतया संभाव्यमानस्यार्थस्य उपपादनार्थं यदर्थान्तरस्य न्यसनं उपपादकत्वेन न्यासः स अर्थान्तरन्यासः । तत्र सामान्यस्य विशेषो विशेषस्य सामान्यं समर्थकमिति द्वौ; तत्रापि साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां भेदद्वयमिति चत्वारो भेदाः । साधर्म्येण तत्रापि सामान्य-विशेषेण । यथा—

---

१ मु. पु. 'तदन्येन' इति पाठः । २ मु. पु. 'यत्तु' इति ।

निजदोषावृतमनसामतिसुन्दरमेव भाति विपरीतम् ।
पश्यति पित्तोपहतः शशिशुभ्रं शङ्खमपि पीतम् ॥

तेषां विशेषात् सामान्येन यथा — 'सुसितवसना[लंकारा]या'मित्यादि ।

वैधर्म्येणाद्यो यथा —

गुणानामेव दौरात्म्याद् धुरि धुर्यो नियोज्यते ।
असंजातकिणस्कन्धः सुखं स्वपिति गौर्गलिः ॥

गलिः पतनशीलः । एवमन्येऽप्युदाहार्याः ।

विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः । (का० ११०, पू०)

वस्तुवृत्तेन अविरोधेऽपि विरुद्धयोरिव यदभिधानं स विरोधः । यथा —

अभिनवनलिनीकिशलयमृणालवलयादि दवदहनराशिः ।
सुभग कुरङ्गदृशोऽस्या विधिवशतस्त्वद्वियोग[पृ० ५२,२]पविपाते ॥

हे सुभग ! विधिवशतो दैवात् त्वद्वियोग एव भवद्विरह एव यः पविर्वज्रं तस्य पाते पतने सति अस्याः कुरङ्गदृशो मृगनेत्रायाः अभिनवा या नलिनी पद्मिनी किसलयं नवदलं मृणालस्य बिसस्य वलयं बाहुलङ्करणं एतदादि सर्वं दवदहनराशिः दावानलस्वरूपं भवति । अत्रापाततो नलिनीदलत्वजातिदवदहनत्वे जात्योर्विरोधप्रतिभासेऽपि संतापकारित्वलक्षण-साधर्म्यपुरस्कारेण रूपकालङ्कारप्रतीतावाभासत्वम् । अस्य बहवो विषयाः स्वयं लक्ष्यतोऽनुस-र्तव्याः । कार्यकारणभूतयोर्धर्मयोर्भिन्नदेशतया आभासनरूपः असंगतिरूपोऽलङ्कारो विरोध एवान्तर्भूतः । यथा —

जस्सेअ वणो तस्सेअ वेअणा भणइ तजणो अलिअं ।
दंतक्खअं कवोले वहुए वेअणा सवत्तीणं ॥

[यस्यैव व्रणस्तस्यैव वेदना भणति तज्जनोऽलीकम् ।
दन्तक्षतं कपोले वध्वाः वेदना सपत्नीनाम् ॥]

तथा सत्यपि कार्यस्य कारणरूपानुकारे यत् तयोर्गुणक्रिये च मिथो विरुद्धतां भजतः स विषमालङ्कारोऽप्यत्रैव विरोधेऽन्तर्भूतः ।

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डुयशस्त्रिलोकाभरणं प्रसूते ॥

तमालनीलाऽपि कृपाणलेखा रणे रणे यस्य करस्पर्शमवाप्य सद्यः शरदिन्दुशुभ्रं यशः प्रसूते एतच्चित्रम् । नीलया शुभ्रजननात् । कीदृशम् ? त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी तस्या भूषणं सर्वलोकानामेकमाभरणमिति द्वितीयं चित्रम् । हस्तस्पर्शमात्रेण सद्यः प्रसव इति तृतीयम् । स्त्री हि पुंपाणिग्रहणानन्तरं कालान्तरे प्रसूते, रणे हिंसैव योग्या न तु प्रसव इति चतुर्थम् । स्त्री तु कचिदेव रतिरणे प्रसूते, इयं सर्वेष्वेव रणेष्विति पञ्चमम् । कृपाणले-

स्वायाः प्रसव इति यावत् । कृपाणधारा छिनत्ति न तु प्रसूते, तथा स्थूलोदरा हि प्रसूते न तु लेखाकारा । किं बहुना ? प्रतिपदमत्र पद्ये [पृ०५३,१]चित्रमुपसंहर्तुं शक्यम् । अत्र पाण्डुनी-रुयोः कार्यकारणगुणयोर्वैषम्यम् । तथा —

यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा ॥ (का० ११८, उ०)
तथैव यद् विधीयेत स व्याघात [इति स्मृतः ।]
(का० ११९, पू०)

इति लक्षितस्य व्याघातस्य विरोध एवान्तर्भावः । उदा०

दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः ।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुवे वामलोचनाः ॥

स्वभावोक्तिर्डि(क्तिस्तु डि)म्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ॥
(का० १११, उ०)

रूपशब्देन वर्णः अवयवसंनिवेशश्च उभयं ग्राह्यम् । तथा च यादृशः स्वाभाविक-धर्माभिधाने चमत्कारः तादृश एवालङ्कारः । यथा —

अम्बाकरावलम्बादविलम्बादुःखितस्खलच्चरणम् ।
क्वणितमणिमञ्जुलरसं (रसनं ?) मुकुलितदशनं हरिं वन्दे ॥

व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दास्तुतिर्वा रूढिरन्यथा । (का० ११२, पू०)

मुखे प्रथमतः रूढिः, पर्यवसाने व्याजेन स्तुतिर्व्याजरूपा स्तुतिर्वा । यथा —

दातारं कृपणं मन्ये मृतोऽप्यर्थं न मुञ्चति ।
अदाता पुरुषस्त्यागी सर्वं संत्यज्य गच्छति ॥

सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ॥ (का० ११२, उ०)

सहार्थेत्यनेन समं सार्द्धमित्यादेः परिग्रहः । एकमपि एकप्रतियोगिकान्वयबोधकम-पीत्यर्थः । द्विवाचकं द्विप्रतियोगिकान्वयबोधकम् । अयं भावः — विशेषणपदानां विशेष्या-न्वितस्वार्थबोधकस्यौत्सर्गिकत्वं प्रकृते च सहाद्यव्ययपदसमभिव्याहारविशेषसमभिव्याहारेण अपरार्थप्रतीतिप्रतियोगिकान्वयप्रतिपादनमित्युभयप्रतियोगिकस्वार्थान्वयबोधकमिति । यत्रैकस्य प्राधान्येनान्यस्य गुणत्वेन एकधर्मान्वयित्वं तत्र यमकालङ्कार इति पर्यवसितोऽर्थः । तेन चैत्र-मैत्रौ सह पचत इत्यादौ नातिप्रसङ्गः । समुच्चये द्वयोः प्राधान्येनान्वयः । अत्र त्वेकस्य । यथा —

सार्कं दिवसनिशाभिः श्वासा दीर्घा भवन्त्यद्य ।
अयि तनुलतया सुतनोर्जीवाशा दुर्लभा जाता ॥

विनोक्तिः सा विनान्येन यत्रान्यः सन्न चे(ने)तरः ।
(का० ११२, पू०)

अन्येन विना अन्यः सन्न भवति असन् वा न भवतीत्यर्थः । [पृ० ५२,२] कश्चिदशोभनः कश्चित् शोभनः । यथा —

विना रजन्या कश्चन्द्रो विना चन्द्रेण का निशा ।

द्वितीयो यथा —

अनयं विनैव राज्यश्रीः साध्वी योषिच्च चापलम् ॥

परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात् परस्परम्[1] ॥ (का० ११३,उ०)

परिवृत्तिरलङ्कारः —

लास्यं कमलवनानां दत्त्वा दत्ते च सौरभं पवनः ।

तान्यपि मुदं जनेभ्यो ददति ततो लब्धदर्शनान्युच्चैः ॥

प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः । (का० ११४, पू०)

तद्भाविकम्.

उदाहरणम् —

आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने ।

भाविभूषणसंभारां साक्षात् कुर्वे तवाकृतिम् ॥

काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता ॥ (का० ११४, उ०)

यथा —

अनिर्भिन्नगभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः ।

पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः ॥

अत्र पूर्वार्द्धवाक्यार्थः पुटपाकप्रतीकाशे हेतुः । पदार्थता यथा —

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः ।

अत्र सदसद्व्यक्तिहेतुत्वं श्रवणार्हत्वे हेतुः ।

पर्यायोक्तं विना वाच्यं वाचकत्वेन यद्वचः । (का० ११५, पू०)

वाच्यतावच्छेदकं विना प्रकारान्तरेण वाच्यस्य अर्थस्य व्यञ्जनया यदभिधानं प्रतिपादनं तत्पर्यायेण भङ्ग्यन्तरेण कथनात् पर्यायोक्तम् । यथा —

यं प्रेक्ष्य चिररूढाऽपि निवासप्रीतिरुज्झिता ।

मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः ॥

यं कृष्णं प्रेक्ष्य ऐरावणमुखे मदेन निवासप्रीतिरुज्झिता । हरेरिन्द्रस्य हृदये मानेनाहङ्कारेण निवासप्रीतिस्त्यक्ता । चिरकालं व्याप्य रूढाऽपि उपचिताऽपि । अत्रैरावणशक्रौ मद-मान-विमुक्तौ जातौ इति व्यङ्ग्यमपि शब्देन प्रकारान्तरेणोच्यते, तेन यदेवोच्यते तदेव व्यङ्ग्यमिति । यथा तु व्यङ्ग्यं तथा नोच्यते ।

---

[1] मु. पु. 'परस्परं' स्थाने 'समासमैः' इति पाठो लभ्यते ।

उदात्तं वस्तुनः संपत्. (का० ११५, तृ० पा०)

संपत् समृद्धियोगः। यथा—

मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः संमार्जनीभिर्हृताः,
प्रातः प्राङ्गणसीम्नि मन्थरचलद्बालाङ्घ्रिलाक्षारुणाः।
दूराद् दाडिमबीजशङ्कितधियः कर्षन्ति केलीशुकाः,
यद् विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत् त्यागलीलायितम्॥

केलेर्भिर्विसूत्रा ये हारा [१०५४,१] तेभ्यो गलिता या मुक्ता मुक्ताफलानि ताः प्रातःकाले मार्जनीभिर्हृतास्तथाऽङ्गन(ण)देशे मन्थरं मन्दं चलन्तो ये बालानां कामिनीनां अंह्रयस्तेषां लाक्षया अरुणाः ताः क(कि)र्मीभूताः दूरात् दृष्ट्वा दाडिमबीजमिति शङ्कितबुद्धयः क्रीडाकीराः विद्वद्भवनेषु यत् कर्षन्ति तद् भोजनृपतेस्त्यागलीलयाश्चेष्टितम्। अत्र विद्वद्भवनस्य मुक्तादिधनसमृद्धियोगः।

महतां चोपलक्षणम्॥ (का० ११५, च० पा०)

उपलक्षणमङ्गभावः, अर्थादुपलक्षणीयेऽर्थे।

तदिदमरण्यं यस्मिन् दशरथवचनानुपालनव्यसनी।
निवसन् बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः॥

न चात्र वीरो रसस्तस्येहाङ्गत्वात्।

तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत् तत्करं भवेत्।
समुच्चयोऽसौ. (का० ११६,)

यथा—

एवमेव विषमो नवमेघः सोऽपि वर्षतितरामभिरामम्।
तत्र चेदविरलं प्लवशब्दाः पूर्णमेव सुतनोः शतमब्दाः॥

अत्र शतपूर्णतायां नवमेघः करणं तदुपरि वर्षणाद्युक्तं काव्यलिङ्गे हेतु-हेतुमद्भावमात्रं विवक्षितं न पुनः हेतूनां गुणप्रधानचिन्ता। अत्र तु एकस्यैव तत्कार्यकारित्वं अन्ये तत्साहाय्यकं कुर्वन्ति इति ततोऽस्याः भेदः।

स त्वन्यो युगपद् या गुणक्रियाः॥ (का० ११६, उ०)

गुणौ [च] क्रिये च इति गुणक्रियाः।

नयनं तव रक्तं च मलिनाश्च रणेऽरयः।
धुनोति चासिं सहसा तनुते च महद्यशः॥

एवं गुणक्रिययोरपि बोध्यम्।

एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः. (का० ११७, पू०)

एकं वस्तु क्रमेणानेकस्मिन् यदभिधीयते स पर्यायः। उदा०—

नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट
केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा ।
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ
कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम् ॥

हे कालकूट! इयमाश्रयस्थितिस्तव केनोपदिष्टा कथिता? कीदृशी? उत्तरोत्तरं विशिष्टमुत्कृष्टं पदं स्थानं यस्यां सा। तथा प्राक् प्रथमतोऽर्णवस्य समुद्रस्य हृदये, अथानन्तरं वृषलक्ष्मणो महादेवस्य कण्ठे, अधुनेदानीं खलानां दुष्टानां वाचि मुखे वससीत्यर्थः। [पृ० ५४,२]

अन्यस्ततोऽन्यथा । (का० ११७, पू०)

अनेकमेकस्मिन्नुच्यते सोऽन्यः ।

मधुरिमरुचिरं वचः खलानां अमृतमहो प्रथमं पृथु व्यनक्ति ।
अथ कथयति मोहहेतुरन्तर्गतमिव हालहलं विषं तदेव ॥

अनुमानं तदुक्तं यत् साध्य-साधनयोर्वचः ॥ (का० ११७, उ०)

बोध्य-बोधकयोरित्यर्थः । यथा—

यत्रैता लहरीचलाचलदृशो व्यापारयन्ति भ्रुवं
यत् तत्रैव पतन्ति संततममी मर्मस्पृशो मार्गणाः ।
तच्चक्रीकृतचापमञ्चितशरप्रेङ्खत्करः क्रोधनो
धावत्यग्रत एव शासनधरः सत्यं सदाऽऽसां स्मरः ॥

यद् यस्मात् यत्रैता लहरीचपलदृष्टयो वामलोचना भ्रुवं व्यापारयन्ति तत्रैवामी मर्मभिदः कामबाणाः सततं धारया पतन्ति। तत् तस्मात् मण्डलीकृतधनुर्यथा भवति तथा पूरितबाणः प्रसार्यमाणबाहुः क्रोधयुक्तः शासनधारकः सन्, आसां सदा स्मरः कामः अग्रत एव धावतीत्यन्वयः। अत्र पूर्वार्द्धे साधनस्य, उत्तरार्द्धे साध्यस्य वचनम्। अत्र वस्तुगत्या व्याप्त्यसत्त्वेऽपि कविप्रौढोक्तौ च तथाभिधानमित्यलङ्कारत्वम्। अन्यथा वह्निमान् धूमादित्यत्रापि तथा स्यात्।

विशेषणैर्यत् साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः । (का० ११८, पू०)

अर्थात् विशेष्यस्य । यथा—

महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः ।
न संहतास्तस्य न भेदवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम् ॥

भारवेः पद्यम्। अत्र महौजस्त्वादिविशेषणानि परानभिभवनीयत्वाद्यभिप्रायकाणि।

व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ॥ (का० ११८, उ०)

निगूढमपि वस्तुनो रूपं स्वरूपमतिपन्नं केनापि व्यपदेशेन यदपह्नूयते सा व्याजोक्तिः। न चैषाऽपह्नुतिः, प्रकृताप्रकृतयोः साम्यस्येहाभावात्। यथा—

शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लसद्-
रोमाञ्चादिविसंस्थुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः ।
हा शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं
शैलान्तःपुर [पृ० ५५. १] मातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद् वः शिवः ॥

वो युष्मान् शिवः अव्याद् रक्षतु । कीदृशः ? शैलेन्द्रेण हिमाचलेन प्रतिपाद्यमाना दीयमाना या गिरिजा पार्वती तस्या हस्तोपगूहेन हस्तस्पर्शेन उल्लसद् व्यक्तीभवद् यद् रोमाञ्चादि रोमाञ्चकं यः स्वरभङ्गादिः तेन विसंस्थुलो विसदृशः योऽखिलः समस्तो विधिर्विधानं तेन यो व्यासङ्गस्तस्य भङ्गे भङ्गार्थमाकुलो व्याकुलः, सस्मितं यथा स्यादेवं तुहिनाचलस्य हिमगिरेः, हा शैत्यमित्यूचिवान् कथितवान् । शैलान्तःपुरे हिमाचलस्यान्तःपुरे यो मातृमण्डलानां गणः समूहस्तैर्दृष्टोऽवलोकित इत्यर्थः । अत्र पार्वतीस्नेहस्य प्रच्छन्नतयाऽनुवर्तमानस्य करस्पर्शजन्यरोमाञ्चादिनोद्भिद्यमानस्य हिमालयकरस्पर्शजन्यत्वं प्रतिपादयता पुनर्निगूहनाद् व्याजोक्तिरित्यर्थः ।

किञ्चित् पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत् प्रकल्पते ।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता ॥ (का० ११९)

प्रमाणान्तरावगतमपि वस्तुशब्देन प्रतिपादितं प्रयोजनान्तराभावात् सदृशवस्त्वन्तरव्यवच्छेदाय भवति पर्यवस्यति सा परिसंख्या । अत्र कथनं प्रश्नपूर्वकं तदन्यथा च । यथा—

किं ध्येयं विष्णुपदं किं वक्तव्यं हरेर्नाम ।
किं कार्यमार्यचरितैरभिलषितं पूजनं विष्णोः ॥

अप्रश्नपूर्वकं यथा—

कौटिल्यं कचनिचये करचरणाधरदलेषु रागस्ते ।
काठिन्यं कुचयुगले तरलत्वं नयनयोर्वसति ॥
यथोत्तरं चेत् पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता ।
तदा कारणमाला स्यात्. (का० १२०)

उत्तरं उत्तरं प्रति यथोत्तरम् । यथा—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि संपदः ॥

अथ हेतोरभेदतः उक्तिर्हेतुमती हेतुः । यथा—

अविरलकमलविकासः सकलालिमदः[1](१दश्च) कोकिलानन्दः ।
रम्योऽयमेति सुन्दरि ! लोकोत्कण्ठाकरः कालः ॥

१ मु. पु. 'संप्रति' इति पठ्यते ।

संप्रति इदानीं कालः समयो रम्यः शोभनः अभ्यु [१०५५,२] पैति आगच्छति । कीदृशः ? अविरलं निरन्तरं कमलानां विकासः प्रफुल्लता यत्र सः । सकलानां समस्तानामलीनां भ्रमराणां मदो यत्र सः । कोकिलानामानन्दो यत्र सः । लोकानां जनानामुत्कण्ठा औत्सुक्यं तत्करस्तत्कर्ता इत्यर्थः ।

उत्तरः श्रुतिमात्रतः । (का० १२१, द्वि० पा०)

यथा—

गम्यतामन्यतः पान्थ ! तवेह वसतिः कुतः ।
दोषाय स्यादलं पान्थ ! वसतिर्योषिदालये ॥

भो गृहिणि ! वासं देहीति वसतियाचकस्य कस्यचिद् वचनमनुना वाक्येनोन्नीयते । असंभाव्यं लोकातिक्रान्तिगोचरं प्रतिवचनम्, यथा—

का विप(स)मा दिव्वगई किं दुल्लभं जणो गुणग्गाही ।
किं सोक्खं सुकलत्तं किं दुक्खं जं खलो लोओ ॥

प्रश्नपरिसंख्यायामन्यव्यपोह एव तात्पर्यम् । इह तु वाच्य एव विश्रान्तिरित्यनयोर्भेदः ।

कुतोऽप्यलक्षितः[1] सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश(श्य)ते ॥
(का० १२२, उ०)

धर्मेण केनचिद् यत्र तत्सूक्ष्मं प्रचिचक्षते[2] ।
(का० १२३, पू०)

कुतोऽपि आकारादिङ्गिताद् वा । सूक्ष्मः तीक्ष्णमतिवेद्यः । यथा—

वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दुप्रबन्धैर्दृष्ट्वा भिन्नं कुङ्कुमं कामि(पि) कण्ठे ।
पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्याः स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख ॥

कापि वयस्या सखी तन्व्याः नायिकायाः पुंस्त्वं पौरुषं व्यञ्जयन्ती तस्याः पाणौ हस्ते खड्गलेखां खड्गाकृतिं लिलेख । किं कृत्वा ? कण्ठे कण्ठस्थले भिन्नं च्युतं कुङ्कुमं दृष्ट्वा । कैः ? वक्त्राद् मुखात् स्यन्दिभिः स्वेदबिन्दूनां प्रबन्धैः समूहैरित्यर्थः । अत्राकृतिमालोक्य कयापि वितर्किते पुरुषायिते असिलेखालेखनेन वैदग्ध्यादभिव्यक्तिमुपनीते पुंसामेव कृपाणपाणितायोग्यत्वात् ।

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत् सारः परावधिः ॥ (का० १२३ उ०)

परः पर्यन्तभागः अवधिरुत्कर्षसीमा यत्र धाराविरोहिततया तत्रैव विश्रान्तेः । यथा—

भोजनभूषणमबलाकरकमलावर्चितं दुग्धम् ।
तदलङ्कारः कदलं तदलङ्कारः शर्करासारः ॥

समाधिः सुकरं कर्म[3] कारणान्तरयोगतः । (का० १२५, पू०)

सुकरं सुकरत्वेन विवक्षितमित्यर्थः । [१०५६,१] यथा—

१ मु. पु. 'कुतोऽपि लक्षितः' इति पाठो लभ्यते । २ 'परिचक्षते' इति मु. पु. । ३ मु. पु. 'कार्यं' इति पाठः ।

मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः ।
उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम् ॥
समं समतया योगो यदि संभावितः क्वचित् ॥
(का० १२५, उ०)

अयमनयोर्योगः उचितः इत्यध्यवसानं चेत् तदा समनामालङ्कारः । इदं सद्योगे असद्योगे [च] । क्रमेणोदाहरणानि 'स्वयमेव सौन्दर्य'त्यादि ।

द्वितीयं यथा—

सुमहद्विचित्रमेतत् समुचितरचने विधिश्चतुरः ।
आस्वाद्यं निम्बफलं तस्य यदास्वादकः काकः ॥
['चित्रं चित्रं बत बत महच्चित्रमेतद्विचित्रम्' इत्यादि ।]

पुनः पुनरुक्तिः संभ्रमातिशयार्था । तूलन्महदिदं त्रैलोक्यं पारमेश्वरं चित्रकर्म संसाराख्यं विचित्रं वर्तते । यथायोग्यमत्र सम्बन्धो दुर्लभः । प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ।

'सर्वं रत्नमुपद्रवेण सहितम् ।' 'देहिनां सदृशा योगा दुर्लभा जगतीतले ।'

इत्याद्युक्तत्वादित्यर्थः । एवं सति विधाता कश्चिद् दैवादुचितरचना संविधाता जाता । इदं चित्रम्, चित्रमत्यद्भुतमित्यर्थः । बत बत महान् संतोषः । बतामन्त्रणसंतोषखेदानुकोशविस्मये । यत् निम्बानां पिचुमन्दानां आस्वादनीया परिणतफलानां स्फीतिः । यश्चैतस्याः कवलनं ग्रासः तस्य कला शिक्षा तत्र कोविदः कुशलः काकलोको विधात्रा सृष्टः इत्यर्थः ।

क्वचिद् यदतिवैधर्म्यान्न योगो घटनामियात् ।
कर्तुः क्रियाफलं नैवानर्थश्च विषयो द्विधा† ॥ (का० १२६)

द्वयोरत्यन्तविलक्षणतया यदनुपपद्यमानतयैव योगः प्रतीयते । यच्च किञ्चिदारभमाणः कर्ता क्रियायाः प्रमादात् न केवलमभीष्टं तत्फलं लभते यावदप्रार्थितमनर्थमासादयति । स द्विरूपो विषमः । क्रमेणोदा०—

शिरीषादपि मृद्वङ्गी केयमायतलोचना ।
अये(यं) क्व च कुकूलाग्निकर्कशो मदनानि(न)लः ॥
सिंहिकासुतसंत्रस्तः शशः शीतांशुमाश्रितः ।
जग्रसे साश्रयं तत्र तमन्यः सिंहिकासुतः ॥

इयं शिरीषपुष्पादपि कोमलाङ्गी दीर्घनेत्रा क्व कुत्र ! अयं च मदनानलः कामाग्निः [प०५६,२] क्व ? कीदृशः ? कुकूलाग्निः करीषाग्निः तद्वत्कर्कशस्तीक्ष्ण इत्यर्थः । द्वितीयमुदा-

---

† मु. पु. पुस्तकपाठान्तरमेकं लभ्यते—

क्वचिद् यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात् ।
कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद् भवेत् ॥

हरति – सिंहिकासुतः सिंहः तस्मात् संत्रस्तो भीतः शशः शीतांशुं चन्द्रं आश्रितः, तं शशं अन्यः सिंहिकासुतो राहुः साश्रयं सचन्द्रं जग्रसे भक्षितवानित्यर्थः । अत्र त्राणरूपफलाभावे अन्येन ग्रासरूपोऽनर्थः ।

महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात् ।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत् ॥ (का० १२८)

आश्रिताश्रययोर्महतोरपि विषये तदपेक्षया तनू अपि आश्रयाश्रयिणौ प्रस्तुतवस्तुप्रकर्षविवक्षया । यथाक्रमं यावधिकतां व्रजतः । तदेतद् द्विविधमधिकम् । क्रमेणोदा० –

अहो विशालं भूपाल ! भुवनत्रितयोदरम् ।
माति मातुमशक्योऽपि यशोराशिर्यदत्र ते ॥

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसंभवा मुदः ॥

तत्र प्रथमं उदाहरति – हे भूपाल ! भुवनत्रितयस्य उदरं मध्यं अहो आश्चर्ये विशालं विस्तीर्णं यद् यस्मात् अत्र मातुं अशक्योऽपि ते तव यशोराशिर्माति परिमातीत्यर्थः । अत्र यशोराशेर्वस्तुनः कात्स्न्येन भुवनत्रयापेक्षया तनुत्वेऽपि तदुत्कर्षविवक्षया तन्मानमेव भुवनत्रयविशालत्वे हेतुः ।

द्वितीयमुदाहरति – कैटभद्विषो विष्णोर्यस्यां तनौ शरीरे जगन्ति चतुर्दशभुवनानि सविकासं सावकाशं आसत स्थितानि तत्र तनौ नारदस्तस्याभ्यागमेनागमनेन संभवा उत्पन्ना मुदः प्रीतयः न ममुः अधिका बभूवुरित्यर्थः । अत्र तपोधनागमनप्रभवमुदोऽन्यशरीरवृत्तित्वेनाविवक्यात् कैटभारिशरीरस्य तनुत्वेऽपि मुदः प्रकर्षविवक्षया तच्छरीरमानमेव हेतुतयोपात्तम् । अत्रान्यो विशेषो गुरुनाम्ना मत्कृतबृहट्टीकातो द्रष्टव्यः ।

प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया ।
या तदीयस्य तत् स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥ (का० १२९)

प्रतिपक्षं [प० ५७.१] तिरस्कर्तुमित्यन्वयः । तत् स्तुत्यै प्रतिपक्षस्तुत्यै । यथा –

त्वं विनिर्जितमनोभवरूपः सा च सुन्दरि ! भवत्यनुरक्ता ।
पञ्चभिर्युगपदेव शरैस्तां ताडयत्यनुशयादिव कामः ॥

अनुशयादिव क्रोधादित्यर्थः ।

पिधीयते यद् बलवत्सजातीयोपलम्भनैः ।
तिरस्करणमन्यस्य तन्मीलितमिति स्मृतम्† ॥ (? का० १३०)

† मुद्रितपुस्तकेषु तु एषः श्लोको निम्नरूपेण लभ्यते –

समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते ।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम् ॥ (का० १३०)

तथा च बलवत्सजातीयग्रहणकृता ग्रहणात्मा अभिभव एव मीलितमिति मन्तव्यम् ।

मल्लिकामालधारिण्यः सर्वाङ्गीणार्द्रचन्दनाः ।
क्षौमवत्यो न लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नायामभिसारिकाः ॥
स्थाप्यतेऽपोह्यते वाऽपि यथापूर्वं परस्परम्[१] ।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ॥ (का० १३१)

निषिध्यते । क्रमेणोदाहरणम् —

पुराणि यस्यां सवराङ्गनानि वराङ्गनारूपपरिष्कृताङ्ग्यः ।
रूपं समुन्मीलितसद्विलासमस्त्रं विलासाः कुसुमायुधस्य ॥
न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद्यदलीनषट्पदम् ।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥

यस्यां नगर्यां पुराणि [illegible] सवराङ्गनानि सोत्तमस्त्रीकाणि । रूपेण परिष्कृतं सुन्दरं अङ्गं यासां ताः । समुन्मीलितो व्यक्तः समीचीनो विलासो यत्र तादृशं कुसुमायुधस्य कामस्य विलासा एषामस्त्रं इत्यर्थः ।

निषेधेऽप्युदाहरति — तज्जलं न यत् सु सुष्ठु चारु मनोहरं पङ्कजं कमलं यत्र न, न लीनः षट्पदो भ्रमरो यत्र, तत् कलं अव्यक्तमधुरम् । स्पष्टमन्यत् ।

पूर्वत्र पुराणां वराङ्गनाः, तासामङ्गविशेषणतामुखेन रूपम्, तस्य विलासाः, तेषामस्त्रम्, अमुना क्रमेण विशेषणं विधीयते । उत्तरत्र निषेधेऽप्येवमेव योज्यम् ।

यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशि स्मृतिः । (का० १३२, पू०)

तत्सदृशे अर्थे सदृशे दृष्टे सति अर्थस्य पदार्थस्य यथानुभवं अनुभवप्रकारेण स्मृतिः स्मरणमित्यर्थः । यथा —

निम्ननाभिकुहरेषु यदम्भः प्लावितं चलदृशां लहरीभिः ।
तद्भवैः कुहरुतैः सुरनार्यः स्मारिताः [प० ५७.२] सुरतकण्ठर(रु)तानाम् ॥

चलदृशां निम्ननाभिविवरेषु लहरीभिर्यदम्भः प्लावितं तद्भवैः लहरीप्रादुर्भूतैः कुहरुतैः शब्दविशेषैः सुरनार्यो देवाङ्गनाः सुरतकण्ठरुतानां सुरतकालीनकण्ठनादं स्मारिता इत्यर्थः ।

भ्रान्तिमान् स यदन्यस्य संविच्चतुल्यदर्शने ॥†
(का० १३२, उ०)

सदित्यन्यदित्यप्राकरणिकं निर्दिश्यते । अन्यदित्यन्यस्य अन्यतया संभेदनं भ्रान्तिमानित्यर्थः । व्यधिकरणप्रकारकं ज्ञानं तथा चानुभूयमानारोपस्य सामान्यालङ्कारस्यात्रैवान्तर्भावः ।

---

१ मु. पु. 'परं परम्' इति पाठः । † मुद्रितपुस्तकेषु तु एषा पंक्तिः ईदृक्पाठस्वरूपा लभ्यते —
स्मरणम्, भ्रान्तिमान् अन्यसंविच्चतुल्यदर्शने ।

यथा—

वैत्रत्वचातुल्यरुचां वधूनां कर्णाग्रतो गण्डतलागतानि ।
भृङ्गाः सहेलं यदि नापतिष्यन् को वेदयिष्यन्नवचम्पकानि ॥

वधूनां कर्णाग्रतः गण्डतले आगतानि नवचम्पकानि को वेदयिष्यन् न कोऽपि, यदि सहेलं सलीलं भृङ्गा भ्रमरा नापतिष्यन् । वधूनां कीदृशीनाम्? वैत्रत्वचातुल्या रुचिर्यासां तास्तथा तासां इत्यर्थः । निमित्तान्तरजनितापि नानात्वप्रतीतिः प्रथमप्रतीतं अभेदेन व्यवसितुं उत्सहते । साक्षात्कारिभ्रमे साक्षात्कारिविशेषदर्शनं विरोधीति न्यायात् । न चैतद्रूपकं प्रथमातिशयोक्तिर्वा तयोराहार्यारोपरूपत्वात् । अन्वयस्य त्वनाहार्यत्वात् । यथा—

धामवर्षि नवमैन्दवं महः प्रेक्ष्य संभ्रमवशादसाध्वसः ।
वीतिहोत्र इति गेहिनीस्तनावाचकर्ष कलशौ धियाध्वगः ॥

विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः ।
एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा ॥ (का० १३५)
अन्यस्तत्[1] कुर्वतः कार्यं अशक्यस्यान्यवस्तुनः ।
तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः ॥ (का० १३६)

एकात्मा एकस्वभावः । तथा च एकमेव वस्तु एकेन स्वभावेन युगपद् अनेकेषु वर्तते तथैव तेनैव प्रकारेणेत्यर्थः । क्रमेणोदा०—

दिवमप्युपजा(या)तानामाकल्पमनल्पगणगुणा येषाम् ।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिव कवयो न ते वन्द्याः ॥

ते कवयः कथमिव न वन्द्याः येषां गिरो वाण्यः जगन्ति [पृ० ५८,१] रमयन्ति । कीदृशानाम्? स्वर्गं गतानाम् । आकल्पं कल्पं व्याप्य अनल्पा बहुतरा गुणगणा येषां कवीनामित्यर्थः ।

सा वसइ तुज्झ हिअए स च्चिअ अच्छीसु सा अ वअणेसु ।
अम्हारिसाण सुंदर ओआसो णत्थि पावाणं ॥

स्फुरदद्भुतरूपमुत्प्रतापज्वलनं त्वां सृजताऽनवद्यविद्यम् ।
विधिना ससृजे नवो मनोभूर्भुवि सत्यं सविता बृहस्पतिश्च ॥

त्वां सृजता विधिना नूतनो मनोभूः कामः ससृजे । सविता सूर्यः, बृहस्पतिर्गुरुः । त्वां कीदृशम्? स्फुरद्विकसदद्भुतं रूपं यस्य तम् । उद्गतः प्रताप एव ज्वलनोऽग्निर्यस्मात् तम् । अनवद्या निर्दोषा विद्या यस्य तं इत्यर्थः । अत्रान्यस्य करणं शाब्दम् ।

स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत् ।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ॥ (का० १३७)

अत्र स्वगुणतिरस्कार एव स्वगुणत्यागः ।

---

१ 'अन्यत्प्रकुर्वतः' इति मु. पु. पाठः ।

विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या ।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचा रुचं स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः ॥

सूर्यस्य रथ्या अश्वाः गरुडाग्रजेन अरुणेन विभिन्नो भेदं प्रापितो वर्णो रूपं येषाम् । परितः स्फुरन्त्या रुचा रत्नैः स्वां रुचं रथ्या आनिन्यिरे नीताः । कीदृशैः रत्नैः ? वंशकरीरनीलैः वंशकलिकावन्नीलवर्णैरित्यर्थः ।

अतद्गुणालङ्कारमाह –

तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत् स्यादतद्गुणः । (का० १३८, पू०)

तस्याप्रकृतस्याननुहारोऽग्रहणम् । उदा० –

गाङ्गमम्बु सितमम्बु जा(या)मुनं कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः ।
राजहंस तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते ॥

गाङ्गं गङ्गासम्बन्धि जलम्, यामुनं यमुनासम्बन्धि जलम्, सैव प्राचीना, न चीयते वर्द्धते, न चापचीयते नश्यतीत्यर्थः ।

सैषा[1] संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः ॥ (का० १३९, उ०)

एतेषामलङ्काराणां भेदेन अन्योऽन्यनिरपेक्षतया शब्दभाग एव अर्थविषय एव उभयं तत्र वा यद् व्यवस्थानं सा संसृष्टिः । तत्र शब्दालङ्कारसंसृष्टिर्यथा – 'तारतारतरै'रित्यादि ।

अर्थालङ्कारसंसृष्टिर्यथा –

लिम्पतीव [पृ० ५८.२] तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥

पूर्वत्र परस्परनिरपेक्षौ यमकानुप्रासौ संसृष्टिं प्रयोजयतः । अत्र तु तथाविधे उपमोत्प्रेक्षे । शब्दालङ्कारयोः संसृष्टिर्यथा – 'हिन्दोलिकेयमिन्दोः कलिके'त्यादौ । अनुप्रासो रूपकं च संसृष्टिं प्रयोजयतः ।

ननु शब्दालङ्कारस्य शब्दमात्रवृत्तित्वात् अर्थालङ्कारस्य अर्थवृत्तित्वमिति कथमुभयोरेकत्र संसृष्टिरिति चेत्, न । एकार्थसमवायरूपसम्बन्धेनार्थवृत्तित्वात् ।

अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु सङ्करः । (का० १४०, पू०)

आत्मनि आत्ममात्रेऽविश्रान्तिजुषां अङ्गाङ्गित्वं अनुग्राह्यानुग्राहकत्वं तद्रूपः सङ्कर इत्यर्थः । इतरविजातीयसहकारेण चमत्कारकारित्वम् । एतेन संसृष्टेर्भेदो दर्शितः । यथा –

आत्ते सीमन्तरत्ने[2] मरकतिनि हृते हेमताटङ्कपत्रे
लुप्तायां मेखलायां झटिति मणितुलाकोटियुग्मे गृहीते ।
शोणं बिम्बोष्ठकान्त्या त्वदरिमृगदृशामित्वरीणामरण्ये
राजन् ! गुञ्जाफलानां स्रज इति शबरा नैव हारं हरन्ति ॥

---

१ 'सेष्टा' इति मु. पु. । २ आदर्शे 'सीमन्तचिह्ने' इति पाठः ।

आचे गृहीते सीमन्तरत्ने शिरोऽलङ्काररत्ने मरकतिनि मरकतयुक्ते हेम्नः सुवर्णस्य ताटङ्कपत्रे ओटीति प्रसिद्धे हृते सति, मेखलायां क्षुद्रघण्टिकायां लुप्तायां गृहीतायां झटिति शीघ्रं मणेः रत्नस्य तुलाकोटिर्नूपुरं तद्युग्मे गृहीते सति, हे राजन्! त्वच्छत्रुस्त्रीणां अरण्ये वने इत्वरीणां गमनशीलानां हारं शबरा भिल्ला न हरन्ति गृह्णन्ति। कीदृशम्? बिम्बप्रायस्यौष्ठस्य कान्त्या रुचा शोणं रक्तं गुञ्जाफलानां स्रज इति बुद्ध्येत्यर्थः। अत्र तद्गुणमपेक्ष्य भ्रान्तिमता प्रादुर्भूतं तदाश्रयणेन तद्गुणः प्रभूतचमत्कारनिमित्तमित्येतयोरङ्गाङ्गिभावः। एवं रूपः सङ्करः शब्दालङ्कारयोरपि दृश्यते। उदाहरणं स्वयमवगन्तव्यम्।

एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः॥ (का० १४०, उ०)

एकस्य एकतरस्येत्यर्थः। न्याय-दोषौ साधक-बाधकप्रमाणौ। तथा च एकत्र [पृ० ५९, १] काव्ये द्वयोर्बहूनां वाऽलङ्काराणां प्रसक्तौ संभवत्येकतरस्य परिग्रहे साधक-बाधकप्रमाणाभावात् संशयः ससंदेहसङ्कर इत्यर्थः। यथा—

नयनानन्ददायीन्दोर्बिम्बमेतत् प्रसीदति।
अधुनाऽपि निरुद्धाशमविशीर्णमिदं तमः॥

इदं इन्दोर्बिम्बं चन्द्रमण्डलं प्रसीदति प्रसादं प्राप्नोति। इदं तमः विशीर्णम्। कीदृशम्? विनिरुद्धा आच्छन्ना दिग् येनेत्यर्थः। प्रसीदतीत्यस्योभयत्रान्वयादित्यर्थः। अत्र किं कामस्योद्दीपनकालो वर्तते?—इति भङ्ग्यन्तरेण कथनात् किं पर्यायोक्तम्? उत तदाननस्येन्दुबिम्बस्य तथाध्यवसायादतिशयोक्तिः? किमेतदिति वक्त्रं निर्दिश्य तद्रूपारोपणाद् रूपकमिदमित्यादिबहूनां संदेहादयमेव सङ्करः। यत्र पुनः—

'सौभाग्यं वितनोति वक्त्रशशिनो ज्योत्स्नेव हासद्युतिः।'

इत्यादौ हासद्युतिर्वक्त्र एव संभवतीत्युपमायाः साधिका, रूपकस्य तु बाधिका। तथा—

'पादाम्बुजं जयत्यस्या मञ्जुमञ्जीरसिञ्जितम्।'

इत्यत्र मञ्जीरसिञ्जितमम्बुजेनास्तीति रूपकस्य साधकमुपमायाश्च बाधकमिति तत्र न सन्देहसङ्करः। एवमन्यत्रापि भाव्यम्।

स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालङ्कृतिद्वयम्।
व्यवस्थितं च. (का० १४१, पू०)

एकस्मिन्नेव स्पष्टतया यदुभावपि शब्दार्थालङ्कारौ व्यवस्थां संपादयतः सोऽप्यपरः। यथा—

स्पष्टोल्लसत्किरणकेसरसूर्यबिम्ब-
विस्तीर्णकर्णिकमथो दिवसारविन्दम्।
श्लिष्टाष्टदिग्दलकलापमुखावतारे
बद्धान्धकारमधुपावलि संचुकोच॥

एकत्रैकपदानुप्रविष्टौ रूपकानुप्रासौ । तेनासौ त्रिरूपः । तेनायमनुग्राह्यानुग्राहकतया सन्देहेनैकपदप्रतिपाद्यतया च व्यवस्थितत्वात् त्रिरूपतया सङ्करः कथितः । अत्रेदमवधातव्यम्—यत्र शब्दाः परिवृत्तिं न सहन्ते स शब्दालङ्कारः; यत्र न तथा सोऽर्थालङ्कारः । यत्र तु केचन सहन्ते केचन न सहन्ते स उभयालङ्कारः । यथा पुनरुक्तवदाभासः परम्परितरूपकं च । [पृ०५९,२] अर्थस्य तु तत्र वैचित्र्यमुत्कटतया प्रतीयत इति तयोरर्थालङ्कारमध्ये गणनं कृतमित्यन्यत्रापि बोध्यम् ।

अथैषामलङ्काराणां दोषाः । अनुप्रासस्य प्रसिद्ध्यभावः, वैफल्यम्, वृत्तिविरोधः—त्रयो दोषाः । क्रमेण उदा० —

अर्चनेन तव दिव्यवर्चसा स्यन्दनेन पदमैन्द्रमृच्छति ।
चन्दनेन तव शैलनन्दने नन्दने च जन एष नन्दति ॥

अत्रार्चनादिना ऐन्द्रपदलाभादिफलं अनुप्रासानुरोधेनैव प्रतिपादितं न पुनः पुराणादिषु तथाप्रसिद्धिरिति प्रसिद्धिविरोधः ।

तथा 'उर्व्यसावत्र तर्व्वाली'त्यादि । अत्र चानुप्रासेन चास्य विविच्यमानं न किञ्चिदपि चारुत्वं प्रतीयते । तथा साधारणधर्माश्रिते न्यूनत्वाधिकत्वं च दोषः । क्रमेणोदा० —

चण्डालैरिव युष्माभिः साहसं परमं कृतम् ।
वह्निस्फुलिङ्ग इव भानुरयं चकास्ति ॥

तथा —

अयं पद्मासनासीनश्चक्रवाको विराजते ।
युगादौ भगवान् ब्रह्मा[1] विनिर्मित्सुरिव प्रजाः ॥

अत्यन्तोत्कृष्टस्योपमानत्वं अपकृष्टस्य उपमेयस्य उपहास एव पर्यवस्यति । दोषानभिधानमधिकत्वस्येति भावनीयम् । यथा —

पातालमिव नाभिस्ते स्तनौ क्षितिधरोपमौ ।
वेणीदण्डः पुनरयं कालिन्दीपात्रसंनिभः ॥

अत्र पातालादिभिरुपमानैः प्रस्तुतोऽर्थोऽत्यन्तकदर्थितः इति कष्टत्वम् ।

स मुनिर्लाञ्छितो मौञ्ज्या कृष्णाजिनपटं वहन् ।
विरेजे नीलजीमूतभागाश्लिष्ट इवांशुमान् ॥

स मुनिर्नारदो व्यराजत अशोभत । मौञ्ज्या लाञ्छितश्चिह्नितः कृष्णाजिनरूपं पटं वस्त्रं वहन् धारयन् । नीलवर्णस्य जीमूतस्य मेघस्य भागे एकदेशे श्लिष्टः संबद्धः अंशुमान् सूर्य इवेत्यर्थः । अत्रोपमानस्य मौञ्जीस्थानीयतडिल्लक्षणो धर्मः केनापि पदेन न प्रतिपादित इति न्यूनत्वम् ।

स पीतवासाः प्रगृहीतशार्ङ्गो मनोज्ञभीमं वपुराप कृष्णः ।
शतह्रदेन्द्रायुधवन्निशायां संसृज्यमानः शशिनेव मेघः ॥

---

१ 'वेधा' इति मु. पु. ।

स कृष्णः मनोज्ञं भीमं च वपुः शरीरमाप प्राप्त [प०६०,१] वान् । पीतं वासो वस्त्रं यस्य सः । प्रगृहीतं शार्ङ्गं धनुर्येन सः । क इव ? शशिना चन्द्रेण संसृज्यमानः मेघ इव । कीदृशो मेघः ? शतह्रदा विद्युत् तदेव यदिन्द्रायुधं तद्वान् तद्युक्तः इत्यर्थः । अत्रोपमेयस्य शङ्खादेर-निर्देशात् शशिनो ग्रहणमतिरिच्यत इति । तथोपमानोपमेययोर्लिङ्गवचनभेदो दोषः । साधा-रणधर्मस्यैकमात्रगतत्वेन प्रतीतेः । तथा —

चिन्तारत्नमिव च्युतोऽसि करतो धिङ् मन्दभाग्यस्य मे ।

अत्र च्युत इत्युपमेयमात्रेणान्वीयते पुंलिङ्गत्वात् । यथा वा —

सक्तवो भक्षिता देव शुद्धाः कुलवधूरिव ।

अत्र शुद्धा इत्युपमेयमात्रेणान्वीयते । लिङ्गभेदो विद्यमानोऽत्राप्रधानम् । यत्र नानात्वेऽपि लिङ्गवचनयोः साधारणधर्मो नैकमात्रगामी भवति तत्र नायं दोषः । यथा —

गुणैरनर्घ्यैः प्रथितो रत्नैरिव महार्णवः ।

अत्र लिङ्गभेदेऽपि विशेषणान्वयस्याविशेषाद् दोषाभावः ।

तद्वेषो सदृशोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मधुरताभृतः ।
दधते स्म परां शोभां तदीया विभ्रमा इव ॥

तद्वेषः परां शोभां दधते । तदीया विभ्रमा विलासा इव । वेषः कीदृशः ? अन्याभिः स्त्रीभिः असदृशः । पुनः कीदृशः ? मधुरतया भृतः पूर्णः । विभ्रमा अपि मधुरतां बिभर्तीति मधुरताभृत् ते मधुरताभृत इत्यर्थः । वचनभेदोदाहरणमिदम् ।

तथोपमायां कालपुरुषविध्यादिभेदोऽपि दोषः, उद्देश्यप्रतीतेरस्खलितरूपतया विश्रान्तेर-भावात् । यथा —

अतिथिं नाम काकुत्स्थात् पुत्रमाप कुमुद्वती ।
पश्चिमाद् यामिनीयामात् प्रसादमिव चेतना ॥

कुमुद्वती स्त्री काकुत्स्थात् अतिथिं पुत्रं आप । केव ? चेतना प्रसादमिवेत्यर्थः । अत्र चेतना प्राप्नोति न पुनरापेति कालभेदः । तथा —

[प्रत्यग्रमज्जनविशेषविविक्तमूर्तिः कौसुम्भरागरुचिरस्फुरदंशुकान्ता ।]
विभ्राजसे मकरकेतनमर्चयन्ती, बालप्रवालविटपप्रभवा लतेव ।

मकरकेतनं कामं अर्चयन्ती पूजयन्ती त्वं राजसे । कीदृशी ? प्रत्यग्रं सद्यस्कं यन्मज्जनं स्नानं तस्य विशेषेण विविक्ता [प०६०,२] व्यक्ता मूर्तिर्यस्याः सा । कौसुम्भरागेण रुचिरः स्फुरन्नंशुकस्य वस्त्रस्यान्तो यस्याः । केव ? बालो नूतनः प्रवालः पत्रं यत्र एतादृशो यो विटपः शाखी तत्र प्रभव उत्पत्तिर्यस्यास्तादृशी लतेवेत्यर्थः । अत्र लता विभ्राजते न तु विभ्राजसे इति पुरुषभेदः । तथा — 'गङ्गेव प्रवहतु ते सदैव कीर्त्तिः ।' इत्यादौ गङ्गा प्रवहति, न तु प्रवहत्विति प्रवृत्तप्रवृत्तात्मनो विधेर्भेदः ।

एवमुपमायामसादृश्यमसंभवश्च दोषः । स्फुटमुदाहरणद्वयम् ।

उत्प्रेक्षायामपि संभावनद्योतकशब्दा एव वक्तुं प्रभवन्ति न तु यथाशब्दोऽपि । तत्र तदुपादानं दोषः । यथा —

उदयौ दीर्घिकागर्भान्मुकुलं मेचकोत्पलम् ।
नारीलोचनचातुर्य्यशङ्कासंकुचितं यथा ॥

दीर्घिकागर्भात् सरोवरमध्यान्मुकुलं उदयौ मेचकोत्पलं कर्बुरकमलम्, नार्याः स्त्रियो लोचनानां चातुर्य्यं तस्मात् या शङ्का भयं तेन सङ्कुचितमिवेत्यर्थः । एवं साधारणविशेषणबलादेव समासोक्तिरनुक्तमप्युपमानविशेषं प्रतिपादयतीति तस्यात्र पुनरुपादाने दोषः ।

स्पृशति तिग्मरुचौ ककुभः करैर्दयितयेव विजृम्भिततापया ।
अतनुमानपरिग्रहया स्थितं रुचिरया चिरया दिवसश्रिया ॥

तिग्मरुचौ सूर्ये ककुभो दिशः करैः स्पृशति सति दिवसशोभया मनोहरया चिरया दीर्घया, अतनु दीर्घो यो मानस्तस्य परिग्रहो ग्रहणं यस्यास्तया, स्थितं विजृम्भितो वर्द्धितः तापो यस्यास्तया । कयेव ? दयितयेव प्रतिनायिकयेवेत्यर्थः । अत्र तिग्मरुचौ ककुभां च यथासदृशविशेषणबलेन व्यक्तिविशेषपरिग्रहेण च नायकतया व्यक्तिः ग्रीष्मदिवसश्रियोऽपि प्रतिनायिकात्वं प्रतिपादयतीति किं दयितयेति स्वशब्दोपादानेन ? । एवमप्रस्तुतप्रशंसायामपि उपमेयमनयैव रीत्या प्रतीतम् । न पुनः प्रयोगेण कदर्थनीयम् । नवीनास्तु एतान् दोषान् उक्तदोषेष्वन्तर्भावयन्तीति [पृ०६१,१] युक्तमुत्पश्याम इत्युपरम्यत इति ॥

2-12-93

ॐ

कवेर्गिरां यद् यदवादि दूषणं पुरातनैर्गङ्करिकाप्रवाहतः ।
इदं सुवर्णे कृतमस्य खण्डनं मया बुधानां हृदयस्य भूषणम् ॥ १ ॥
प्रतापकृद्भानुरिवाहितानामानन्दकृच्चन्द्र इवेतरेषाम् ।
युक्तं तवैतत् किल वाचकेन्द्रश्रीभानुचन्द्रान्वयसंभवस्य ॥ २ ॥
भानुः प्रतापं न च दृक्प्रमोदं दृग्मोदमिन्दुर्न पुनः प्रतापम् ।
तनोषि चैतद् द्वयमप्यधीश ! तस्मादमूभ्यामधिकोऽसि नूनम् ॥ ३ ॥
कथं प्रभोऽपाकुरुषे प्रताप-यशःप्रभाभिर्वत भानुचन्द्रौ ।
त्वं भानुचन्द्रानुचरोत्तमोऽपि यद्वा चरित्रं महतामचर्य्यम् ॥ ४ ॥
स्वस्यापरेषामपि कार्यसिद्धि-विधानतः सिद्धिपदप्रतिष्ठा ।
जगज्जनानन्दविधायकत्वात् त्वदाह्वये चन्द्रपदव्यवस्था ॥ ५ ॥
प्रख्यापिताः स्वविषयात् शमिनः समेऽपि
श्रीशाहिना वत विनैव भवन्तमेकम् ।
यद्वा युगान्तसमयोत्थितमारुतेन
शैलाः समेऽपि चलिता न तु नाकिशैलः ॥ ६ ॥

॥ इयं शिष्यकृता प्रशस्तिः ॥

॥ इति पादशाहश्रीअकब्बरसूर्यसहस्रनामाध्यापक-श्रीशत्रुञ्जयतीर्थकरमोचनाद्यनेकसुकृतविधापक-महोपाध्याय-श्रीभानुचन्द्रगणिशिष्याष्टोत्तरशतावधानसाधनप्रमुदितपादशाहश्रीअकब्बर-प्रदत्त-षु(खु)स्फहमापराभिधानमहोपाध्याय-श्रीसिद्धिचन्द्रगणिविरचिते काव्यप्रकाशष(ख)ण्डने गुणनिर्णयो नाम दशम उल्लासः समाप्तः ॥

ॐ

॥ संवत् १७०३ वर्षे अश्व(श्वि)न शुदि ५ गुरौ लिखितम् ॥ श्रीः ॥

एतस्मिन् ग्रन्थ उल्लिखितानां विशेषनाम्नां सूचिः ।

अकब्बर (नृपति)	१	भानुचन्द्र	१,१०१
अपभ्रंश (भाषा)	९	महिमभट्ट	६
अभिज्ञानशाकुन्तल (नाटक)	१९	मिश्र	४,३३
कर्पूरमञ्जरी (सट्टक)	६१	रत्नावली (नाटिका)	६०
कालिदास	२२	वामन (ग्रन्थकार)	६३
काव्यप्रकाशखण्डन	१	विक्रमोर्वशी (नाटक)	२४,५३
काव्यप्रकाशविवृत्ति	१	विश्व (कोश)	९,२६
कुमारसंभव	६०	वीरचरित (नाटक)	६०
दूताङ्गद (नाटक)	१९	वेणीसंहार (नाटक)	२०,६०
नागानन्द (नाटक)	६२	शत्रुञ्जय (तीर्थ)	१
नारायणभट्ट	१८	सिद्धिचन्द्र	१,१०१
प्रकाशकृत् (काव्यप्रकाशप्रणेता)	३३,६८	हयग्रीववध (नाटक)	६०
बृहट्टीका (काव्यप्रकाशटीका)	२,९४	हेमसूरि	१

अस्मिन् ग्रन्थे विनिर्दिष्टानां सूत्र-श्लोक-पद्यांशादीनां वर्णानुक्रमेण सूचिः ।

अइपिहुलं जलकुंभं १२
अएँ एहि किं पि कीए वि ८४
अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णे ३८
अगूढमपरस्याङ्गं २९
अग्निनोऽननुसन्धानं ५८
अचल एव बिभर्ति ७२
अजस्रमास्फालितवल्लकी ७९
अतन्द्रचन्द्राभरणा २६
अतादृशि गुणीभूत ५
अतिथिं नाम काकुत्स्थात् १००
अतिविततगगन ४५
अथ लक्ष्मणानुगत० ७८
अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा ३१
अद्यापि स्तनशैल ४१
अधिकरतलतल्पं ३९
अनङ्गमङ्गलगृहा ३४,३७
अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गं ६६
अनयेनेव राजश्री ७७
अनयं विनेव राज्यश्रीः ८८
अनिर्भिन्नगभीरत्वाद् ८८
अनुरागवती सन्ध्या ७४
अनुस्वानाभसंलक्ष्य २४
अनौचित्याद् ऋते नान्यत् ६१
अन्यदेव हि लावण्यं ८२
अन्यत्र व्रजतीति का १७
अन्यस्तत्कुर्वतः कार्ये ९६
अपदस्थपदसमासं ३८
अपसारय घनसारं ६३
अपारे काव्यसंसारे १
अपास्य च्युतसंस्कार ३७
अभिन्दुसुन्दरी नित्यं ७३
अभिनवनलिनीकिसलय ८६
अमुं कनकवर्णाभं २७
अमृतममृतं कः सन्देहो २९
अम्बाकरावलम्बा ८७
अयं पद्मासनासीन ९९
अयं स रशनोत्कर्षी २९
अरे रामाहस्ताभरण ५३
अर्चनेन तव दिव्य ९९
अर्थशक्त्युद्भवेऽप्यर्थो २५
अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि ५१
अर्थे सत्यर्थभिन्नानां ७९
अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र १२
अर्थोऽपुष्टः कष्टो ४४
अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव २५
अलमतिचपलत्वात् ३८
अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् २६
अलसवलितैः प्रेमार्द्रा ३४
अलससिरमणी धुत्ताण २५
अवन्ध्यकोपस्य विहन्तु ३७
अविततमोऽन्धकूप० ८१
अविरलकमलविकासः ९१
अविवक्षितवाच्यो १४
अविश्रान्तिजुषामात्म० ९७
अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा० ९६
अस्त्रज्वालावलीढ ४७
अस्या मुखस्य लीला ८१
अस्याः सर्गविधौ प्रजापति ७९
अहो केनेदृशी बुद्धिः ७०
अहो विशालं भूपाल ९४
आकृष्य पाणिमशुचिं ११
आक्षेप उपमानस्य ८४
आज्ञा शक्रशिखामणि ५१
आत्ते सीमन्तरत्ने ९७
आदित्योऽयं स्थितो मूढाः २७
आलानं जयकरिणः ८०

आलिङ्गितस्तत्र भवान् ३६
आलोक्य कोमलकपोल ५९
आश्रयैक्ये विरुद्धो यः ६१
आसीदञ्जनमत्रेति ८८
इक्षुच्छायानिषादिन्यः ६६
इदमनुचितमक्रमश्च ३९
इयं सुनयना दासी ८४
इष्टनाशादिभिश्चेतो २१
उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं २०
उत्तानोच्छूनमण्डूक ५६
उत्तिविसेसो कव्वो ३४
उत्थाय हृदि लीयन्ते ५६
उत्फुल्लकमलकेसर ३५
उदयमयते दिङ्मालिन्यं ८०
उदेति सविता ताम्र० ४३
उद्ययौ दीर्घिकागर्भात् १०१
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता ७
उपकुर्वन्ति तं सन्तं ६३
उपकृतं बहु तत्र १३
उपप्लवः सैंहिकेये ९
उपमानाद्यदन्यस्य ८३
उपमानोपमेयत्वे ७८
उपरि घनाघनपटली १४
उभौ यदि व्योम्नि पृथक् ८२
उव णिच्चलणिप्पन्दा १२
एकं क्रमेणानेकस्मिन् ८९
एकस्त्रिधा वससि चेतसि ८५
एतान्येवाऽजहत्स्वार्थ० ८
एवमेव विषमो नवमेघः ८९
औत्पातिकैर्मनःक्षेपः २२
औत्सुक्येन कृतत्वरा ६०
कण्ठकोणविनिविष्ट० २३
कमलेव मतिर्मतिरिव ७८
करिहस्तेन संबाधे ५५
करुणे विप्रलम्भे ६५
कर्णावतंसादिपदे ५३
कलक्वणितगर्भेण ६६
कल्लोलवेल्लितदृषत् ५१
कः कः कुत्र न घुर्घुरा० ४०
कामकन्दर्पचण्डालो ६५
कारणान्यथ कार्याणि १५
कार्यकारणयोर्यश्च ८१
का विसमा दिव्वगई ५२
काव्यं यशसेऽर्थकृते २
किविणाण धणं णाआण ८३
किञ्चित् पृष्टमपृष्टं वा ९१
किं ध्येयं विष्णुपदं ९१
कीटादिविद्धरत्नादि ३
कुभोजनं महाराज ९६
कुसुमितलताभिरहता ८५
कृतमनुकृतं दृष्टं वा १९
कैलासालयभाललोचन ३०
कौटिल्यं कचनिचये ९१
क्वचिद् [illegible] ५३
क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः २४
केङ्कारः स्मरकार्मुकस्य ४०
क्षिप्तो हस्तावलग्नः ६२
क्षुद्रः सन्त्रासमेते ३०
खणपाहुणिआ देअर २८
ख्यातेऽर्थे निर्हेतो० ५२
गच्छति पुरः शरीरं ६
गच्छाम्यच्युतदर्शनेन ३१
गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः ७९
गम्यतामन्यतः पान्थ ९२
गर्जद्घनघटाटोपे ५४
गाङ्गमम्बु सितमम्बु° ५०
गाढालिङ्गनवामनीकृत ५९
गाम्भीर्यगरिमा तस्य ७६
गुणानामिव दौरात्म्यात् ८६
गुणैरनर्घ्यैः प्रथितो १००
गुरुजनपरतन्त्रतया ७०
गृहीतं येनासीः परिभव ४८
ग्रामतरुणं तरुण्या ५,३२
ग्रीवाभङ्गाभिरामं ९०
चकितहरिणलोल° ७६
चकास्त्यङ्गना रामाः ७५
चञ्चद्भुजभ्रमितचण्ड ६६
चण्डालैरिव युष्माभिः ९९
चन्द्रं गता पद्मगुणान् ५७
चित्ते चहुट्टदि न खुट्टदि ६४

चित्रं महानेष नवावतारः	२१
चिन्तारत्नमिव च्युतोऽसि	१००
जगति जयिनस्ते ते	४६
जंघाकाण्डोरुनालो	४२
जनस्थाने भ्रान्तं कनक०	३०
जस्सेय वणो तस्सेय वेयणा	८६
जाने कोपपराङ्मुखी	२३
जितेन्द्रियत्वं विनयस्य	५७,९१
ज्योत्स्ना चन्दनमाला	८५
तच्चित्रं यत्र वर्णानां	७४
ततः कुमुदनाथेन	७७
ततोऽरुणपरिस्पन्द	७०
तत्त्वज्ञानाद् यदीर्ष्यादे०	२१
तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन्	८९
तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि	१३
तथैव यद् विधीयते	८७
तददोषौ शब्दार्थौ सगुणा	२
तदाभासा अनौचित्य	२६
तदिदमरण्यमस्मिन्	८९
तद् गच्छ सिद्ध्यै कुरु	५५
तद्रूपकमभेदो य	७८
तद्गुणमनुहारश्चेद्	९७
तद्वेषो सदृशोऽन्याभिः	१००
तनुवपुरजघन्योऽसौ	७५
तपस्विभिर्या सुचिरेण	३५
तर्जन्यनामिके श्लिष्टे	५६
तस्याः कर्णावतंसेन	५३
तस्या रघोः सूनुरुप०	२४
तामनङ्गजयमङ्गलश्रिय	५९
तारतारतरैरेतैः	७२
तिष्ठेत् कोपवशात् प्रभाव	५७
तीर्थान्तरेषु स्नानेन	३५
तृषितां हरिणीं हरिणः	६०
ते हिमालयमामन्त्र्य	६८
तं वीक्ष्य वेपथुमती	२४
तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति	८८
त्वमग्रतः सखल	६०
त्वयि दृष्ट एव तस्या	८३
त्वयि निबद्धरतेः प्रिय	२९,४२
त्वामस्मि वच्मि विदुषां	१४
त्वामालिख्य प्रणयकुपितां	१८
त्वं विनिर्जितमनोभव	९४
त्रासश्चैव वितर्कश्च	२१
दातारं कृपणं मन्ये	८७
दिवमप्युपयातानां	९६
दिधीङ्वेवीङ्समः कश्चित्	५४
दुष्टं पदं श्रुतिकटु	३४
दूरादुत्सुकमागते	५९
दृशा दग्धं मनसिजं	८७
दृष्ट्वैकासनसंस्थिते	६७
देशीभावं गमिता	८२
देहिनां सदृशा योगा	९३
द्योतयित्वा कमप्यर्थं	८०
द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां	९,४१,४४
धर्मेण केनचिद् यत्र	९२
धामधर्षितवर्मैन्दवं	९६
धीरो विनीतो निपुणो	३८
न चेह जीवितः कश्चित्	२६
न तज्जलं यन्न सुचारु	९५
नन्वाश्रयस्थितिरियं	९०
न यत्र दुःखं न सुखं	२२
नयनं तव रक्तं च	८९
नयनानन्ददायीन्दो°	९८
न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके	४४
नाथे निशाया नियते	४३
नाल्पः कविरिव स्वल्प	७४
निगीर्याध्यवसानं तु	८१
निजदोषावृतमनसा	८६
निजनयनप्रतिबिम्बैः	६८
निम्ननाभिकुहरेषु	९५
नियतारोपणोपायः	७९
नियतिकृतनियम	१
निर्वाणवैरदहनाः	५६
निर्वेदग्लानिशङ्का	२२
निशात्ययव्याजिनि	८५
निःशेषच्युतचन्दनं	४
न्यक्कारो ह्ययमेव मे	३६
पदार्थे वाक्यरचनं	६५

परापवादनिरतै॰ ४३
परिम्लानं पीनस्तन° ६९
परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः ८१
पर्यायोक्तं विना वाच्यं ८८
पाण्डु क्षामं वदनं ८३
पातालमिव नाभिस्ते ९९
पादाम्बुजं जयत्यसा १८
पुनरुक्तवदाभासो ७४
पुराणि यस्यां सवराङ्गनानि ९५
पूर्वान्तवत्स्वरः सन्धौ २९
पौरं सुतीयति जनं ७५
प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् ८०
प्रजा इवाङ्गादरविन्द २४
प्रत्यक्षा इव यद्भावाः ८८
प्रत्यग्रमज्जनविशेष १००
प्रतिकूलवर्णमुपहत ३८
प्रतिकूलविभावादि ५८
प्रतिपक्षमशक्तेन ९४
प्रयत्नपरिबोधितः ५२
प्रस्थानं वलयैः कृतं १८
प्राप्ताप्राप्तनिशुम्भ ५७
प्रातः पुनः स्यादुदियाच्च ६१
प्राप्ताः श्रियः कामदुघा ४९,६८
प्राप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ ६५
प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः १७
प्रेयान् सोऽयमपाकृतः २७
बहवस्ते गुणा राजन् २६
बालानां चुम्बनालिङ्गौ ६४
बीभत्सरौद्ररसयोः ६५
ब्राह्मणातिक्रमत्यागो ३१
भग्नप्रक्रममक्रम ३८
भद्रात्मनो दुरधिरोहतनो॰ ९
भद्रो रुद्रे नृपे राम ९
भम धम्मिअ वीसत्थो १०
भावस्य शान्तिरुदयः २३
भासते प्रतिभासार ७४
भूपालरत्ननिर्दैन्य ४८
भेदाविमौ च सादृश्यात् ८
भोजनभूषणमकला ९२
मतिरिव मूर्तिर्मधुरा ७८
मथ्नामि कौरवशतं ३१
मधुरिमरुचिरं वचः ९०
मनोरागस्तीव्रं विष° ६४
मयासं रामलं कुशलव° ८४
मल्लिकामालधारिण्यः ९५
मसृणचरणपातं ४२
महत्या गदया युक्तः ७३
महतोर्थान् महीयांसा° ९४
महाप्रलयमारुत ४३
महिलासहस्सभरिए २०
महौजसो मानधनाः ९०
माए घरोवअरणं ११
माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः ७१
माधुर्यौजःप्रसादाख्या ६५
मानमस्या निराकर्तुं ९३
मालादीपकमाद्यं चेत् ३८
मित्रे क्वापि गते सरो ६४
मुक्ताः केलिविसूत्रहार° ८९
मुख्यार्थान्वयबाधे स्यात् ७
मुख्यार्थहतिर्दोषो ३३
मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं २४
मूर्ध्नि वर्गान्त्यगा वर्णाः ६८
मृगचक्षुषमद्राक्षं ५४
मृधे निदाघघर्मांशु ७७
यच्छन्दयोगः प्राथम्यं ३६
यत्रानुल्लिखितार्थमेव ५०
यत्रैता लहरीचलाचल ९०
यथानुभवमर्थस्य ९५
यथायं दारुणाचारः ३५
यथोत्तरं चेत् पूर्वस्य ९१
यदा त्वामहमद्राक्षं ५४
यदानतोऽयदानतो ७२
यदि दहत्यनिलोऽत्र ६७
यदुक्तमन्यथावाक्य ७०
यस्य न सविधे दयिता ५७
यस्य ह्रासः स चेत् क्वापि १९
यं प्रेक्ष्य चिररूढापि ८८
यः कौमारहरः स एव हि २

युगान्तकालप्रति	९४	वस्तु वाऽलङ्कृतिर्वेति	२५
यूनोरेकतरस्मिन् गतवति	१९	वज्रवैडूर्यचरणैः	३७
येन ध्वस्तमनोभवेन	५५	वंशो वेणौ कुले वर्गे	९
ये रसस्याङ्गिनो भावा	६३	वागर्थाविव संपृक्तौ	७६
येषां ज्ञानाच्चमत्कारो	३३	वाच्यभेदेन भिन्ना यद्	७२
योग आद्यतृतीयाभ्यां	६९	विद्वन् मानसहंस वैरि°	७९
योऽसकृत् परगोत्राणां	७३	विधीयते यद् बलवत्	९४
रइकेलिहिअनिवसन	२७	विना प्रसिद्धमाधार	९६
रक्ताशोक कृशोदरी	५५	विना रजन्या कश्चन्द्रो	८८
रक्तास्यनेत्रता रौद्रे	२२	विनिर्गतं मानदमात्म०	६
रतिर्देवादिविषया	२२	विनोक्तिः सा विनाऽन्येन	८७
रतिर्हासश्च शोकश्च	१६	विभावानुभावास्तत्	१५
रसभाव-तदाभास	१५	विभिन्नवर्णा गरुडा°	९७
रसासार रसा सार	७४	विरोधः सोऽविरोधेऽपि	८६
राकाविभावरीकान्त	३७	विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन	२४
राकासुधाकरमुखी	२३	विवक्षितं चान्यपरं	१५
राजन् विभान्ति भवत	३८	विशेषणैर्यत्साकूतैः	९०
राजर्षिवंशसूनोर्मे	२१	विशेषोक्तिरखण्डेषु	८५
राममन्मथशरेण ताडिता	४४	विषयन्तःकृतेऽन्यस्मिन्	८
रामरावणयोर्युद्धं	७८	वेत्रत्वचा तुल्यरुचां	९६
रामोऽसौ भुवनेषु विक्रम	२८	व्यङ्ग्यमेव गुणीभूत	२९
रूपामृतस्य वापिकापि	७८	व्यभिचारिरसस्थायि	५८
रौद्रशक्त्या तु जनितं	२१	व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा°	८७
लग्नं रागावृताङ्ग्या	९२	व्यानम्रा दयितानने	५९
लतामूले लीनो हरिण°	८३	व्रीडा चपलता हर्ष०	२२
लङ्घिऊण तुज्झ बाहु	८१	शक्तिमत्त्वं वाचकत्वं	७
लावण्यं तदसौ कान्ति	१३	शक्तिर्निपुणतालोक	२
लावण्यौकसि राजनि	८४	शनिरशनिश्च तमुच्चै०	२५
लास्यं कमलवनानां	८८	शब्दार्थचित्रं यत्पूर्वं	३२
लिखन्नास्ते भूमिं बहिरव०	२७	शाब्दस्तु लाटानुप्रासो	७१
लिम्पतीव तमोऽङ्गानि	३७	शिरीषादपि मृद्वङ्गी	९३
वक्तृबोद्धव्यकाकूनां	१२	शिलीमुखोऽलि-बाणयोः	९
वक्तृवाच्यप्रबन्धानां	६९	शून्यं वासगृहं विलोक्य	१७
वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दु	९२	शृङ्गारहास्यकरुणा	१६
वक्त्राम्भोजे सरस्वत्यधि०	५०	शृणु सखि तव वचनीयं	८४
वक्ष्यमाणोक्तविषयः	८४	शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमान	९१
वदनं वरवर्णिन्याः	७१	श्रुतिमात्रेण शब्दानां	६६,६९
वद वद जितः स शत्रु	५७	श्रुतेन बुद्धिर्व्यसनेन	५२
वर्णसाम्यमनुप्रासः	७०	श्यामां श्यामलिमानं	५०

श्लेषः प्रसादः समता ६५
सकलकलं पुरमेतत् ७३
सक्तं वृत्तिस्तु धर्मस्य ८३
सक्तवो भक्षिता देव १००
समाध्यः स्वरितादि ४८
सव्यं मनोरमा रामाः ६१
सदा मध्ये यासामियम्० ४६
सदा स्नाता निशीथिन्यां ४९
सद्यः करस्पर्शमवाप्य ८६
सद्योमुण्डितमत्तहूण ६८
स पीतवासाः प्रगृहीत ९९
सममेव समाक्रान्तं ८२
समाधिः सुकरं कर्म ९२
स मुनिर्लाञ्छितो मौञ्ज्या ९९
सम्यग्ज्ञानमहाज्योति ३६
सरागया श्रुतघन ६२
सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां ११
सविता विधवति विधु० ७७
सव्रीडा दयितानने ५८
साकं दिवसनिशाभिः ८७
साकांक्षोऽपदमुक्तः ४४
सा च दूरे सुधासान्द्र ३७
साधनं सुमहद् यस्य ३५
साधर्म्यमुपमाभेदे ७५
सा पत्युः प्रथमापराध १८
सामान्यं वा विशेषो वा ८५
सामान्यस्य द्विरेकस्य ८२
सारसवत्ता विहता ६७
सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ ८
सा वसइ तुज्झ हिअए ९६
साहेंति सहि सुहअं ११
सितकरकररुचिरविभा ७२
सुचरणविनिसृष्टैर्नूपुरैः ६६
सुधाकरकराकार ३७
सुप्तं विबोधोऽमर्षश्च २२
सुमहद् विचित्रमेतत् ९३
संकेतकालमनसं १३
सङ्ग्रामाङ्गणसङ्गतेन ८३
सन्दिग्धमप्रतीतं ३४
सन्दिग्धो निर्हेतुः ४४
संप्रहारे प्रहरणैः ५९
संभ्रमः साध्वसेऽपि स्यात् ६
संभावनमथोत्प्रेक्षा ७८
सिंहिकासुतसंत्रस्तः ९३
सैषा संसृष्टिरेतेषां ९७
सौभाग्यं वितनोति ९८
स्तुमः कं वामाक्षि २३
स्तोकेनोन्नतिमायाति ७३
स्निग्धश्यामलकान्ति २८
स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि ९५
स्पष्टोल्लसत्किरणकेसर ९८
स्पृशति तिग्मरुचौ १०१
स्फुटनीलोत्पलपटलं ८०
स्फुटमेकत्र विषये ९८
स्फुरदद्भुतरूपमुत्० ९६
स्मर्यमाणविरुद्धोऽपि ६२
स्वादस्थानोपगतयमुना ३९
स्याद् वाचको लाक्षणिकः ७
स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छ ५
स्वमुत्सृज्य गुणं योगात्० ९६
हरस्तु किञ्चित् परिवृत्त ३१
हनूमदाद्यैर्यशसा ८४
हन्तुमेव प्रवृत्तस्य ५३
हा नृप हा बुध हा कवि २९
हा मातस्त्वरितासि कुत्र १९
हृदयमधिष्ठितमादौ ८२
ज्ञेयौ शृङ्गारबीभत्सौ ४४

21203